अंक 4

1990

झारखण्ड दर्शन

दस्तावेज : संथाल विद्रोह □ कौन कहे झारखण्डी और कौन कहे आदिवासी □ चुनाव बहिष्कार □ झारखण्ड की स्वायत्तता और परम्परागत गांव-व्यवस्था □ बड़े बांधों का विकल्प □ कहानी और कविताएं

सम्पादक
दिलीप कुमार

आवरण चित्र
सचिन

सम्पर्क पता
सम्पादक, झारखण्ड दर्शन
रूम नम्बर : 3
चण्डीनगर हाउसिंग सोसाइटी
साकची
जमशेदपुर—831001
(बिहार)

प्रकाशक
समग्र प्रकाशन की ओर से सीताराम शास्त्री C/o, बहादुर उरांव,
राखा, असन्तलिया,
चक्रधरपुर-833102
(बिहार)

इस अंक में

पृष्ठ

1 सम्पादकीय
3 पाठकों के विचार
6 कविताएँ
8 दस्तावेज : महान संथाल विद्रोह [1855—56]
☐ डबल्यू. डबल्यू. हंटर
18 छोटानागपुर-संथालपरगना में बड़े बाँधों का विकल्प-iii
☐ वीर भारत तलवार
31 कौन कहे झारखण्डी और कौन कहे आदिवासी ?
☐ निर्मल सेनगुप्ता
35 और कितने दिन [कहानी]
☐ रंजीत राजीव
43 चुनाव का मुद्दा
☐ वीर भारत तलवार
46 छोटानागपुर में गाँवों की व्यवस्था [विशेष निबंध]
☐ प्रभु महापात्र

सम्पादकीय

झारखण्ड दर्शन का चौथा अंक प्रस्तुत है। अनिवार्य कारणों से बहुत चाहने पर भी शीघ्र अंक निकाला नहीं जा सका। इसके लिए हमें खेद है। पिछले अंक के सम्पादकीय में झारखण्डी बुद्धिजीवियों की उदासीन भूमिका का उल्लेख किया गया था। लगता है कि सम्पादकीय को लोगों ने गंभीरता से लिया। इस दौरान हमें कई रचनायें प्राप्त हुईं। जगह की कमी के चलते हम उन सब को प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं। लेकिन भविष्य में उपयोग के लिए वे हमारे फाईल में सुरक्षित हैं। रचनाओं के लेखकों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

□ □ □

पिछला वर्ष झारखण्ड आन्दोलन के लिए एक हचचल भरा वर्ष रहा है। 1 जनवरी 1989 को खरसवां के शहीदों की याद में समाविष्ट होकर आजसू के कार्यकर्त्ताओं के अपने प्रमाण-पत्र जलाये जाने और झारखण्ड न मिलने तक घर न लौटने की शपथ लेने से लेकर "झारखण्ड नहीं तो चुनाव नहीं" की नीति के प्रत्याहरण पर विचार करने तक एक लम्बा साल गुजर गया। इस दौरान आजसू के "नेतृत्व" में झारखण्ड समन्वय समिति के जूझारू बन्द से दबाव में आकर केन्द्र सरकार ने झारखण्ड आन्दोलनकारी संगठनों को वार्ता के लिए बुलाया। वार्ता की प्रक्रिया में गठित झारखण्ड विषयक समिति ने झारखण्ड का सर्वेक्षण करके सरकार को अपनी रपट दी। रपट में झारखण्ड के सिलसिले में कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए गये। इसके बाद सरकार बदल गयी। नयी सरकार आयी। अब देखना है कि नयी सरकार रपट पर कौन सी कारवाई करती है।

वार्ता के दौर में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के झारखण्ड समन्वय समिति के साथ मोर्चाबन्दी करने से लोगों को लगा था कि झारखण्डी ताकतों की अभी पूर्ण एकता हो गयी है। लेकिन शीघ्र ही यह भ्रम टूट गया। चुनाव में झारखण्ड पार्टी और मुक्ति मोर्चा यथावत आपस में उलझे रहे। आजसू समन्वय समिति से टूट गया। फिर भी, सत्ता का सवाल उनको जोड़ती और तोड़ती रहेगी।

झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के तीन उम्मीदवार और झारखण्ड समर्थक श्री ए० के० राय के सांसद बन जाने और चुनाव में कुल मिलाकर झारखण्डी पार्टियों को अच्छी संख्या में मत प्राप्त होने से झारखण्डी जनता काफी उत्साहित है। शायद आसन्न विधान सभा चुनावों में झारखण्डी दल फिर से 32 सीट जीत लेंगे।

उपरोक्त घटनाचक्र से लग सकता है कि झारखण्ड आन्दोलन अग्रगति पर है। लेकिन आम आदमी और समस्यायें जहाँ थीं वहीं हैं। भाषणबाजी को छोड़कर जन-समस्यायों से निपटने के लिए जमकर कोई संघर्ष छेड़ना झारखण्डी दलों का कार्यक्रम कभी नहीं रहा है। लोग पूछते हैं कि चुनाव जितने और सत्ता में आने के आग्रह से ग्रस्त नेतृत्व क्या सत्ता में आने के बाद भी समस्याओं की ओर ध्यान देंगे ? हो सकता है नेतृत्व अपनी लीक पर ही बना रहे जिस पर वह चलता रहा है।

मौजूदा झारखण्ड आन्दोलन जनता की जमीन, जंगल, विस्थापन, रोजगार, भाषा की प्रतिष्ठा आदि मुद्दों पर किए आन्दोलनों का समग्र रूप नहीं है और न ही वह उनको प्रतिबिम्बित करता है। जिस राह पर जो नहीं है वह कल उस राह पर किस बिना पर चलेगा ?

झारखण्ड आन्दोलन झारखण्डी जनता के लिए तभी कोई क्रान्तिकारी-परिवर्त्तनकारी भूमिका अदा कर सकेगा जब वह उपरोक्त मुद्दों पर खड़ा एक जन-आन्दोलन होगा। जन-आन्दोलन में जनता की सक्रिय भूमिका के अभाव के चलते ही बन्दों को असरदार बनाने के लिए आतंकवादी हथकंडों का सहारा लेना पड़ता है। झारखण्ड आन्दोलकारी अगर अपनी नीति को जनमुखी न बनावें तो मौजूदा तीन झारखण्डी सांसद और संभावित '32' विधायक मिलकर भी जयपाल सिंह के 32 विधायकों से अधिक कुछ नहीं कर पायेंगे, चाहे वे सत्ता में पहुंच जायें या नहीं।

[5.2.90]

पाठकों के विचार

आरक्षण का विरोध करना होगा

पौलुस कुल्लु द्वारा लिखित "झारखण्ड प्राप्ति के संभावित उपाय" ('झारखण्ड दर्शन', अंक 3) लेख पढ़ा। उन्होंने झारखण्ड प्राप्ति के जो उपाय हमारे पाठकों तक पहुंचाया उससे मैं पूर्णतः सहमत हूं। किन्तु श्री कुल्लु ने कुछ तत्वों का जिक्र नहीं किया और वह है झारखण्ड क्षेत्र में 'आरक्षण'। सच पूछा जाय तो झारखण्ड प्राप्ति के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा आरक्षण है। सरकार आरक्षण देकर वास्तव में झारखण्ड के आदिवासियों (अनुसूचित जनजाति) एवं अन्य जातियों के बीच दरार पैदा कर रही है।

झारखण्ड क्षेत्र में जब भी किसी नेता का आगमन हुआ वो सिर्फ आदिवासियों की ही सुविधा एवं असुविधा का जिक्र करते हैं जबकि झारखण्ड में आदिवासियों के अलावे और भी अनेक जातियाँ हैं जिनमें मुख्यतः पिछड़ी जातियाँ हैं। इन जातियों का आर्थिक राजनैतिक एवं शैक्षणिक विकास उचित सुविधा के अभाव में अवरूद्ध हो रहा है। यही कारण है कि ये जातियाँ झारखण्ड आंदोलन को पूर्णतः सहयोग प्रदान नहीं करते हैं। आरक्षण के कारण हमारे झारखण्ड के बुद्धिजीवियों का सही विकास नहीं हो रहा है। यदि हमें अलग झारखण्ड राज्य प्राप्त करना है तो हमें सर्वप्रथम आरक्षण का विरोध करना होगा। आरक्षण के हटने से ही झारखण्ड के सभी जातियों को नौकरी एवं शिक्षा का समान अवसर प्राप्त होगा। तभी झारखण्ड तथा झारखण्ड आन्दोलन का चौमुखी विकास सम्भव है।

जयपाल सिंह उराँव

राँची

सवालों को जन-चेतना और जन-शिक्षण से जोड़ना पड़ेगा

झारखण्ड दर्शन के तीसरे अंक को पढ़ने से मेरे दिमाग में बहुत सारी बातें उभर आती हैं और एक बेचैनी भी होती है।

जैसे कि एक सवाल सम्पादकीय से ही पैदा होता है —आन्दोलन के राजनीतिक धरातल को ऊँचा करने में झारखण्डी बुद्धिजीवी पर्याप्त मात्रा में शामिल क्यों नहीं हो रहे हैं ? कहीं बुद्धिजीवी बनने की प्रक्रिया में ऐसे कुछ तत्व तो नहीं हैं जो उनको जनता से अलग कर रहे हों ?

इससे गहरा और एक सवाल है—आन्दोलन के बौद्धिक कार्य (याने की समस्याओं को सोचने समझने की कोशिश) की जिम्मेवारी ऐसे बुद्धिजीवियों के ऊपर क्यों छोड़ा जा रहा है जो एक अरसे से (अंग्रेज लॉर्ड मेकाले की कुटनीति के अनुसार) जनता के ऊपर राज करने के लिए शिक्षित किये जा रहे हैं ? क्या इस काम को जनता खुद कर नहीं सकती ? इस बात की झलक तो हमें बड़े बाँधों पर वीर भारत तलवार के लेख में भी मिलता है। आखिर परंपरागत सिंचाई व्यवस्था तो जनता ही ने बनाई थी न ? तो फिर किन बुद्धिजीवी इंजिनियरों ने बड़े बांध की बात उठाई ? गौर करने की बात यह भी है कि उत्तर बिहार में बाढ़ से बचने के लिए लगातार 1890 से बड़े बाँध बनाने का प्रस्ताव आ रहा था और 1950 तक हर तकनीकी संस्था ने उसे नकारा था। फिर अचानक 1953 में कोसी बाँध और तटबंध कैसे पारित हो गये ? और 10 वर्षों के अन्दर उत्तर बिहार की हर नदी पर तटबंध बनाने का काम कैसे शुरू हो गया ? किस 'बुद्धि'

की यह सारी उपज थी ? कोसी तटबंध बनने के 30 साल बाद यह सवाल इसलिए जरूरी है क्यों कि तटबन्ध बने थे 5 लाख एकड़ जमीन को बाढ़ से बचाने के लिए जबकि आज करीब उतनी ही जमीन दलदल में बदल गयी है या 12 महीने पानी में डूबी रहती है। यही झलक औरतों के सवाल में भी दिखाई देती है। एक तरफ नारी मुक्ति का दर्शन है जिसमें ग्रामीण महिलाएँ मूक श्रोता मात्र रह गईं हैं, दूसरी तरफ डायन प्रथा और जमीन पर मालिकाना के हक की समस्यायें हैं जो शिक्षित एवं मुखर स्त्री नेताओं के नारों के सिवा जैसी की तैसी रह गयी है। कहाँ है 'बुद्धि' और 'श्रम' का मेल ?

इसका यह मतलब नहीं कि आम गरीब जनता हर समस्या को समझती है या हर सवाल का उत्तर उसके पास है। सत्तारूढ़ वर्ग के प्रचार का भी असर जनता के ऊपर पड़ता है। जैसे कि 40 वर्षों के निरन्तर प्रचार के बाद उत्तर बिहार के किसान भी मानने लगे थे कि तटबन्ध ही बाढ़ को रोक सकते हैं अन्यथा दूसरा विकल्प नहीं, किन्तु आज तटबंधों के टूटने के साथ-साथ वह विश्वास भी टूट रहा है। तो कैसे इन "वैज्ञानिक" अन्ध-विश्वासों और मान्यताओं से छुटकारा पाया जा सकता है ?

मुझे तो बार-बार ऐसा लगता है कि हर मुद्दे पर, हर विषय पर, एक सक्रिय आन्दोलन को पुरानी बाधाओं को तोड़ना बहुत ही आवश्यक हैं। मसलन बड़े बाँधो की जगह छोटानागपुर—संथालपरगना में आहर और छोटे बाँध ही बनाये जायें, फिर भी गरीबी नहीं हटेगी, क्योंकि उनका फायदा भी शक्तिशाली वर्ग लेंगे। तो क्या ऐसी बातों को और साफ करने की जिम्मेवारी 'झारखण्ड दर्शन' के लेखकों पर नहीं पड़ती ? इस संदर्भ में कुछ उदाहरण मेरे मन में आते हैं।

जैसे कि संथाल विद्रोह के संबंध में जो दस्तावेज छापा गया है उसमें कानू संथाल के कोर्ट का अभिलेख भी रहता और साथ ही उसके विद्रोह की कहानी भी बतायी जाती तो कितनी साफ हो जातीं। सजा की सूची देखकर एक बात तो तुरन्त सूझती है। हर एक मुजरिम को "अवैध दंगा" करने के लिए सजा दी गयी है। तो इसका मतलब क्या यह होता है कि कोई दंगा ऐसा भी होता है जो "वैध" ? —जैसे कि पुलिस द्वारा मजदूरों को पिटाई और कत्ल !

या गाँवों के नामों की बात लीजिए। मेरे ख्याल से यह तो आम बात है कि पुराने नाम किसी प्राकृतिक विशेषता या घटना से जुड़े हुए थे। देश में पता नहीं कितने ही पिपरिया और डोंगरीटोला और डोडीताल और सीतापुर होंगे। परन्तु इतिहास में उन नामों का बदलता हुआ क्रम ज्यादा महत्वपूर्ण होता है। जैसे कि यहाँ खजूरवाटोला (खजूर के पेड़ से सम्बन्धित), पटउराटोला छींदटोला का समूह आज से 100 साल पहले अनूपपुर बन गया। क्योंकि इलाकेदार अनूप सिंह ने अपनी शान के लिए यहाँ अपनी छतरी बनाई और रेल को पटरी बिछाने में अंग्रेजों को मदद की।

कुलोदा महताइन की कहानी बहुत पसंद आई। परन्तु उस पर दूसरी नजर दौड़ाने पर यह सवाल सामने आता है—इतना जोर एक व्यक्ति विशेष पर क्यों ? क्या समाज में बदलाव एक इन्सान के विद्रोह से आयेगा ? क्या इतिहास हमें यही बताता है कि संथाल हूल केवल कानू संथाल की नहीं थी बल्कि कई हजार संथाल, कम्हार, पहड़िया, कुम्हार और अन्य जाति के लोगों की थी ?

इसी सिलसिले में पौलूस कुल्लु का सुझाव अच्छा लगा कि जाति के आधार पर संगठन बनाया जाये क्योंकि इतिहास बताता है कि यही आधार संगठन का पहले से रहा है। परन्तु क्या यह पर्याप्त है ? क्या वर्ग (या उत्पादन के

काम) की पहचान जरूरी नहीं ? अन्यथा संघ क्या केवल जाति के आधार पर बन सकेगा ? दोनों का तालमेल क्या सम्भव है ? एक सुझाव यह भी हो सकता है कि जहाँ संथाल संगठन बने वहाँ उसके भी कई अंग हों। जैसे कि संथाल महिला मंडल, आदिवासी किसान समिति, आदि। इसी तरह दूसरी जातियों में भी, ताकि संगठन बनाने में पुरानी जातीय पहचान की मदद मिले और साथ-साथ संघ बनाने के लिए सभी मजदूरों या सभी किसानों को संगठित करने में भी यह सहायक हो याने कि वर्ग की पहचान भी रहे।

चक्रधरपुर में बने संग्राम समिति का कुछ हद तक यही चरित्र था। आदिवासी की पहचान झारखण्ड आन्दोलन से आयी और मजदूर की पहचान रेल मजदूरों के संगठन से। परन्तु इसके साथ ही दो मुद्दे और सामने आते हैं। पहला तो यह है कि वर्ग की पहचान तभी बन सकेगी जब उस उत्पादन व्यवस्था को समझा जायेगा जिसमें वह वर्ग जुड़ा हुआ है। याने, रेल मजदूर की ताकत इस पर निर्भर है कि रेल व्यवस्था में मजदूर एक खास जगह पर है और वहाँ से वह अपने दुश्मनों के तौर-तरीकों और आपसी सांठ-गाँठ को पहचान सकता है। तभी न वह यूनियन नेता एवं रेल अधिकारी के भ्रष्टाचार और महाजन की सुदखोरी के खिलाफ आवाज उठा सकता है ?

दूसरा मुद्दा है झारखण्डी किसान और रेल मजदूर के रिश्ते का। जैसे लेखक श्रीहर्ष कन्हारे कहते हैं—यह तो बार-बार देखा गया है कि मजदूर देहात क्षेत्र के संघर्ष से अपने को अलग रखते हैं। परन्तु क्या यह केवल शहर और गांव का विरोध है ? क्या यह सच नहीं है कि इस देश के इतिहास में कई ऐसी घटनायें हुई हैं जिनमें गाँव के किसानों ने बड़ी तादाद में अपनी मजदूर भाईयों की लड़ाई में हिस्सा लिया है, मदद की है ? यह क्यों हुआ है ? चेतना में इतना अंतर क्यों ?

शायद इसका उत्तर कुछ हद तक रंजन घोष के लेख में मिलता है। भौंरा कोलियरी के गोवर्धन मांझी और फाग भूंइयां भ्रष्ट अफसरों की कतार में इसलिए नहीं खड़े हैं कि वे स्वभाव से ही मतलबी और चरित्रहीन हैं। न ही यह केवल मजदूर आन्दोलन की असफलता है। जो बात लेख में छुपी हुई है किन्तु साफ शब्दों में नहीं आती है, वह है इसमें सत्ता-पक्ष की मजबूत और सुनियोजित योजना। वे सोच-समझकर ऐसे कदम उठाते रहते हैं जिससे उत्पादन का खर्चा घटता रहे और मजदूर पर लगाम बरकरार रहे। आखिर, चार्जशीट से लेकर छंटाई तक और भारत यात्रा (LTC) से लेकर बोनस तक—यह सब क्या है ? मैनेजमेन्ट की भाषा में इसको 'वर्क रेशनलाईजेशन' कहा जाता है यानी वह 'विज्ञान' जिससे काम और कर्मी दोनों मैनेजमेन्ट के नियंत्रण में रहें। इस विज्ञान को समझे बिना मजदूर उसका जवाब भी नहीं ढूढ़ सकेगा। आदमखोर शेर को मारने के लिए उसकी आदत, चाल-चलन, सोचने के तौर-तरीके यह सब समझना बहुत जरूरी होता है। नहीं तो उसे मारने के लिये गया हुआ शिकारी खुद शिकार बन जायेगा।

यह सवाल चक्रधरपुर की संग्राम समिति की लड़ाई के सिलसिले में भी प्रासंगिक है। क्या संग्राम समिति की घोषित नीति इस बात का इजहार करती है कि किसान और मजदूर के सामने एक ही शेर खड़ा है ? या क्या यह केवल एक आपसी लेन-देन का रिश्ता है ? मेरी समझ में इन सवालों को सिर्फ संग्राम समिति और उसके नेताओं से जोड़कर देखने में भारी भूल होगी। समस्या का स्तर आम रेल-मजदूर तथा आम झारखण्डी किसान का है। क्या ये दोनों समझते हैं कि उनका दुश्मन एक ही है ? समिति ने कौन से ठोस कदम उठाये हैं इस दुश्मन की छवि को साफ-साफ सबके सामने रखने के लिए ?

झारखण्ड दर्शन का तीसरा अंक अच्छा लगा। मुझे लगता है कि इसमें एक कोशिश है जो अभूतपूर्व है। इसीलिए तो मेरे मन में इतने सारे सवाल उठे हैं। मैं उन सवालों को लिखकर इसलिए भेज रहा हूं कि शायद इससे 'दर्शन' की गतिशील खोज में कुछ मदद मिले। मुझे लगता है कि इन सभी सवालों को जन-चेतना और जन-शिक्षण से जोड़ना पड़ेगा। आशा है कि 'झारखण्ड दर्शन' के पाठकगण इन बातों पर बहस करने को तैयार होंगे। तभी न एक सामूहिक ज्ञान का विकास होगा।

दुनु राय, शाडोल (मध्यप्रदेश)

जनकवि गोरख पांडे नहीं रहे !

संघर्षरत मजदूरों और किसानों को क्रांतिकारी गीत देनेवाले क्रांतिकारी जनकवि गोरख पांडे अब नहीं रहे। उनसे बिछुड़कर हमें 29 जनवरी 1990 को एक साल पूरा हो जाता है। क्रांतिकारी संघर्षों से जुड़े लोगों के मानसपटल पर उनकी याद हमेशा अंकित रहेगी। उन्होंने क्रांतिकारी आन्दोलन को अपने दर्जनों गीतों से समृद्ध किया है। उनके मशहूर गीत "गुलमिया .. ...." और "समाजवाद धीरे-धीरे आई" अत्यन्त लोकप्रिय बन गये हैं। हम उनके एक गीत को प्रकाशित करके श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। —सम्पादक

समाजवाद धीरे-धीरे आई !

समाजवाद बबुआ, धीरे-धीरे आई
समाजवाद उनके धीरे-धीरे आई
हाथी से आई
घोड़ा से आई
अंगरेजी बाजा बजाई, समाजवाद।
नोटवा से आई
वोटवा से आई
बिड़ला के घर में समाई, समाजवाद।
गांधी से आई
आंधी से आई
टूटही मड़ईयो उड़ाई, समाजवाद।
कंगरेस से आई
जनता से आई
झण्डा के बदली हो जाई, समाजवाद।
डालर से आई
रूबल से आई
देसवा के बान्हे धराई, समाजवाद।
वादा से आई
लबादा से आई
जनता के कुरसी बनाई, समाजवाद।
लाठी से आई
गोली से आई
लेकिन अहिंसा कहाई, समाजवाद।
महंगी ले आई
गरीबी ले आई
केतनो मजूरा कमाई, समाजवाद।
छोटका के छोटहन
बड़का के बड़हन
बखरा बराबर लगाई, समाजवाद।
परसों से आई
बरसों से आई
हरदम अकासे तकाई, समाजवाद।
धीरे-धीरे आई
चुपे-चुपे आई
अँखियन पर परदा लगाई
समाजवाद उनके धीरे-धीरे आई।

[—1978]

क वि ता

याद में

विवेक कुमार दास (उम्र 12 वर्ष)

किसने किया था "हल्ला बोल"
"चक्का जाम"
क्या हुआ था उसका अन्जाम ?
दुनिया से मिट गया एक उज्ज्वल नाम।
हाशमी ने बहाया खून अनमोल
हम लेंगे उसका मोल
"हल्ला बोल"

अब बजेगा क्रांति का ढोल,
"हल्ला बोल"
रखेंगे सबका नकाब खोल।
"चक्काजाम" "चक्काजाम"
अमर रहे हाशमी नाम।

□

सोलेन कुजूर की पीड़ा

महादेव टोप्पो

राँची के आस-पास
जंगल के कटते पेड़ों को देख
ट्रकों पर लदे लकड़ियों को देख
आरा मशीनों पर मोटे तनों को चिरते देख
वीरान इलाकों में भी
नित नए मकानों को खड़ा होता देख
सोलेन कुजूर आतंकित है
भयभीत है
रोप चुका है—सरवुए का पौधा
पूछने पर कहता है
"आनेवाली पीढ़ी के लिए
एकत्र कर रहा हूँ
जंगल का एक नमूना
बना रहा हूं जंगल का मॉडल
सरहुल मनाने के लिए
—फूल खोजने की कष्ट को समझता
रोप रहा हूं—सरवुए का पौधा"
आनेवाली पीढ़ी नयी
राँची शहर के आदिवासी मुहल्लों में
दूर जंगल, पहाड़ों की घाटियों में, पठारों में तराईयों में
इस खतरे से बेखबर
है दारू के नशे में चूर
काश ! और भी कोई समझता
सोलेन कुजूर की इस पीड़ा को
इस आतंक को
इस भय को □

दस्तावेज

महान संथाल विद्रोह : 1855-56

डबल्यू.डबल्यू. हंटर

यहाँ हम 1855-56 के प्रसिद्ध संथाल विद्रोह के बारे में एक ऐतिहासिक दस्तावेज छाप रहे हैं। यह दस्तावेज अंग्रेज लेखक-प्रशासक डबल्यू डबल्यू हंटर का लिखा हुआ है जो उनकी प्रसिद्ध किताब दी एनल्स ऑफ रूरल बेंगाल (ग्रामीण बंगाल का वृतांत) से लिया गया एक अंश है। यह किताब पहली बार 1868 ई० में, संथाल विद्रोह के सिर्फ 12 साल बाद, छपी थी। संथाल विद्रोह के समय हंटर भारत में मौजूद थे। उन्हें विद्रोह से सहानुभूति थी। हंटर के विवरण में कुछ कमी भी है। हलांकि हंटर ने विद्रोह के सिलसिले में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अंग्रेज प्रशासकों की भी थोड़ी-सी आलोचना की है कि ये अंग्रेज सिर्फ अपनी मालगुजारी से मतलब रखते थे और आदिवासियों की तकलीफों को जानने की कोशिश नहीं करते थे और न ही वसूली गई मालगुजारी के बदले आदिवासियों को कोई सुविधा प्रदान करते थे। फिर भी, हंटर ने विद्रोह के लिए मुख्यः जिम्मेदारी अंग्रेजों पर न डालकर स्थानीय स्तर पर संथालों का शोषण करनेवाले जमींदारों और साहूकारों पर डाल दी है और उन्हें "हिन्दू" या "मुसलमान" या "बंगाली" शोषक बताकर धर्म और जातियता के आधार पर बाँट दिया है। हंटर के विवरण में मुख्य दोष यह है कि वे स्थानीय जमींदारों-साहूकारों के शोषण के पीछे ईस्ट इण्डिया कम्पनी की असली भूमिका को नहीं देखते जिसने इन जमींदारों-साहूकारों को संरक्षण प्रदान कर रखा था और साथ ही जमींदारी प्रथा को लागू करके आदिवासियों को उनकी जमीन के हक से वंचित कर रखा था। फिर भी, हंटर के विवरण से उस महान विद्रोह की कुछ घटनाओं की झलक मिलती है जो महत्वपूर्ण है। —सम्पादक

□ □ □

1854 और 1855 के जाड़ों में संथाल एक अजीब बेचैनी की हालत में थे। उन्होंने बहुत बढ़िया फसल काटी थी, और पूँजी के प्रवेश से खेती की पैदावार की स्थानीय कीमतें बढ़ गयी थीं। फिर भी, उच्चभूमि वासियों में उत्तेजना और असंतोष बना रहा। वर्ष के दौरान जिले की प्रगति की समीक्षा करते हुए बीरभूम के मजिस्ट्रेट ने बेकार ही रपट लिखी कि सब कुछ समृद्ध है। उन्होंने लिखा, "जिले भर में रेलवे अधिकारियों द्वारा काफी व्यापक रूप से चलाये जा रहे निर्माण कार्यों तथा भारी संख्या में गरीब वर्गों के लोगों को उनसे प्राप्त रोजगारों से बासिंदों की हालत में काफी सुधार हुआ है, और सब तरफ भरपूर फसल होने से भी उनकी स्थिति बेहतर हुई

है। लेकिन, उनके अनाज के लिए ऊँची कीमतों तथा उनकी मेहनत के लिए ऊँची मजदूरी मिलने के बावजूद संथाल जाति बेचैनी से डोल रही थी। सच बात तो यह थी कि धनी संथाल अब हिंदुओं के धोखे में नहीं आने का निश्चय कर चुके थे, जो हिन्दू ऊँची कीमतें मिलने में बाधा डालते थे; गरीब किसान अब उनके कृषिदास न रहने के लिए दृढ़ निश्चय थे, और दिहाड़ी मजदूर उनकी गुलामी न खटने का निश्चय कर चुके थे।"

लोगों की ऐसी मानसिक स्थिति में नेताओं की कोई कमी नहीं होती है। हिन्दू महाजनी के असहनीय उत्पीड़न के शिकार एक गाँव के दो भाई अपने देशवासियों के मुक्तिदाताओं के रूप में सामने आये। उन्होंने दावा किया कि वे दैवी कार्य से आये हैं और उन्होंने अपने देवदूत होने के प्रमाणस्वरूप स्वर्ग से भेजे गये प्रतीकों को दिखाया। उन्होंने कहा कि संथालों के भगवान लगातार सात दिनों तक उनको दिखायी पड़े : पहले देशी लिबास में एक गोरे आदमी के रूप में, इसके बाद आग की लपट के रूप में जिसके बीच में एक चमकता हुआ चाकू था; तब फिर साल पेड़ के तने के छेददार टुकड़े के रूप में, जिससे संथालों की बैलगाड़ी का पहिया बनता है। ईश्वर ने दोनों भाइयों को एक पवित्र ग्रंथ दिया और आकाश ने कुछ कागज के टुकड़े गिराये जिनको गोपनीय ढंग से पूरे संथाल इलाके में प्रचारित किया गया। बगैर किसी व्याख्या के हर गाँव को एक टुकड़ा मिला और उसके साथ एक आदेश दिया गया कि एक क्षण भी देरी किये बगैर उसे सबसे नजदीक के गाँवों में पहुंचा दिया जाये, नहीं तो राष्ट्र को भगवान के क्रोध का शिकार बनना पड़ेगा। इस प्रकार अपने देशवासियों में कोई बड़ी घटना के घटने की आम उम्मीद को जगाने के बाद नेताओं ने आशा की कि उनके अंग्रेज शासक मामले की तहकीकात करेंगे और उनके प्रति अन्याय को सुधारेंगे, लेकिन उनके अंग्रेज शासकों के पास ऐसी तहकीकात करने के लिए वक्त नहीं था। तब उन्होंने न्याय के लिए बड़े अधिकारी से दरखास्त की और उसमें स्पष्ट ढंग से यह भी कहा कि उनके भगवान ने उन्हें अब और इन्तजार न करने का आदेश दिया है। यह अधिकारी लोगों या उनकी बेइन्साफियों के बारे में कुछ नहीं जानता था। एक सस्ते और व्यवहारिक प्रशासन के पास केवल अपनी आमदनी का ख्याल रखने के लिए समय है, संथाल प्रशासन ने इस काम को असरदार ढंग से किया; जनता के प्रति हमारी अज्ञानता का जो भयानक प्रतिफल हमें मिला है उसके लिए केवल कोई अकेला अधिकारी नहीं बल्कि पूरी व्यवस्था दोषी है। हर बार की तरह अंग्रेज सुपरिंटेन्डन्ट ने मालगुजारी जमा किया और शिकायतों को दरकिनार किया। हताश होकर संथाल नेताओं ने कमिशनर की शरण ली, जो प्रांत के एक डीविजन का प्रभारी एक उच्च अंग्रेज अधिकारी था और कहा जाता है कि, उनसे साफ-साफ कहा गया कि अगर वे उनके साथ किये गये अन्यायों से उनको राहत नहीं दिलायेंगे तो वे खुद अपना समाधान कर लेंगे। कमिशनर नहीं समझ सका कि वे लोग क्या चाहते हैं; हर बार की तरह टैक्स का मामला आया; प्रशासन पहले की तरह सस्ता और व्यवहारिक बना रहा। संथाल नेताओं ने कहा, "भगवान बड़ा है, लेकिन वह बहुत दूर है।" एक अन्तिम स्रोत बचा हुआ था। राष्ट्रीय वृक्ष साल की डाली के साथ दूतों को हर पहाड़ी घाटी में भेजा गया; और लोग, संकेत के प्रति आज्ञाकारिता का पालन करते हुए भारी तादाद में जमा हुए। वे जमा होने का उद्देश्य नहीं जानते थे लेकिन कागज के टुकड़ों से उनकी उम्मीदें जग गयी थीं और वे निरपवाद रूप से अपने हाथों में तीर-धनुष लिये एकत्रित हो गये।

भाइयों ने देखा कि उन्होंने ऐसे एक तूफान को खड़ा कर दिया है जिस पर वे नियन्त्रण नहीं कर सकते हैं। शिविर से एक आम आदेश जारी किया गया कि लोग समतल मैदानों में उतर कर कलकत्ते की ओर चलें और 30 जून 1855 को अभियान का प्रारम्भ हुआ। नेताओं के अंगरक्षकों की संख्या ही 30,000 की थी। अब तक अपने-अपने गाँव से लाया गया खाना बचा रहा तबतक प्रयाण अनुशासित रहा, लेकिन अपने लक्ष्य के बारे में अज्ञात नेतृत्वहीन सशस्त्र-दलों ने शीघ्र ही खतरनाक रूप धारण किया; खाने का सामान खतम हो जाने से लूटने या जबरन् दान लेने की जरूरत पड़ गयी। नेता चाहते थे कि लोग मांग कर खायें, जबकि भीड़ लूटना पसंद करती थी। 7 जुलाई को एक देशी इन्स्पेक्टर ने सुना कि एक बड़ी संख्या में पहाड़ी लोगों ने दो भाइयों के नेतृत्व में उसने अधिकार क्षेत्र में प्रवेश किया और हिन्दू सूदखोर लोगों ने घबराकर उसे घूस देकर दल पर डकैती का झूठा आरोप लगाने और उनके नेताओं को पकड़ने के लिए कहा। वह अपने सिपाहियों के साथ गया लेकिन रास्ते में संथालों का एक दूत उससे मिला, जिसे इंस्पेक्टर को लेकर पड़ाव में आने के लिए भेजा गया था। दोनों भाइयों ने उसे आदेश दिया कि उनके अनुचरों के भोजन-पानी के लिए वह अपने अधिकार क्षेत्र में हर हिन्दू परिवार से दस शिलिंग के हिसाब से टैक्स वसूले और इतना कहकर शांतपूर्वक वे उसे छोड़ने ही जा रहे थे कि तभी किसी को पता चला कि वह उनके खिलाफ झूठी शिकायत करने के उद्देश्य से आया था। पहले तो उसने इस आरोप को नहीं माना, यह कहते हुए कि वह सर्पदंश से हुई एक आकस्मिक मौत के बारे में छान-बीन करने जा रहा था, लेकिन बाद में उसने स्वीकार कर लिया कि सूदखोर लोगों ने डकैती का झूठा मामला बनाने तथा संथालों के नेताओं को पकड़ कर लाने के लिए उसे घूस दिया है। दोनों भाइयों ने उससे कहा कि अगर उसके पास उनके खिलाफ कोई सबूत हो तो वह उनको ले जाये और बाँध दे। उस दुःसाहसी इन्सपेक्टर ने यह सोचते हुए कि संथाल तो सामान्यतः शांतिप्रिय होते हैं अपने सिपाहियों को आदेश दिया कि दोनों भाइयों को हथकड़ी लगा दे; लेकिन जैसे ही उसके मुँह से ये बातें निकलीं पूरी भीड़ उस पर टूट पड़ी और उसको तथा उसके सिपाहियों को बाँध दिया गया। फटाफट सुनवाई करके मुख्य नेता सिदू ने खुद अपने हाथों से उस भ्रष्ट इन्सपेक्टर को मार डाला और पुलिस पार्टी के नौ सदस्य संथालों के पड़ाव में मार डाले गये।

उस दिन याने 7 जुलाई को विद्रोह का प्रारम्भ हुआ। ऐसा नहीं लगता कि कूच करने के समय उन्होंने सरकार के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह करने का विचार किया हो। जब सब कुछ खतम हो गया तब उनके नेता, जो अन्य मामलों में बाकछल या झूठ बोलने से बिलकुल नफरत करते थे, ने विधिवत् घोषणा की कि उनका उद्देश्य कलकत्ता जाना है जहाँ वे स्थानीय अधिकारियों द्वारा ठुकराई गयी अर्जी को गवर्नर-जेनरल के चरणों में रखेंगे। उनके इस बयान की सत्यता का पता इस बात से चलता है कि उनकी पत्नियाँ और बच्चे भी उनके साथ थे। सच में कहा जाये तो, आंदोलन को रिवाजी ढोल-नगाड़ों और बाँसुरियों के साथ निकाले गये उनके विराट जातीय जुलूसों से फर्क नहीं किया जा सकता था। अभाव के चलते वे लूट-पाट के लिये मजबूर हुए थे, और पुलिस इन्सपेक्टर पर किये गये अविचारित हमले ने अभियान के पूरे चरित्र को ही बदल दिया। अनाक्रमणकारी किन्तु आधा वश में किये गये उच्चभूमि वासी को खून का स्वाद मिल गया था और क्षणभर में उसका पुराना जंगली स्वभाव

लौट आया। फिर भी उनकी कार्यवाही में कटु न्याय का कुछ भाव था। नेताओं को ऊपर से आदेश मिला था कि हिंदू महाजनों की तत्काल हत्या कर दी जाये लेकिन बाकी सभी वर्गों को संरक्षण प्रदान किया जाये, और उन्होंने अनभिज्ञ भीड़ को आश्वस्त किया कि दक्षिण में अवस्थित बड़ा अंग्रेज लाट इस कार्यवाही का अनुमोदन करेगा और लूट में हिस्सा लेगा।

भिन्न एवं भारी आबादी वाली जाति से घिरे हुए एंग्लो-इंडियन समुदाय जैसे उपनिवेशियों के लिए आशंकित होना और उतावले होकर नतीजे निकाल लेना स्वाभाविक था। अगर स्थानीय प्रशासन भी इन आशंकाओं और उतावले निष्कर्षों से ग्रसित होता हैं तब उसका नतीजा क्या हो सकता है इसका शोचनीय प्रमाण जमैका की हाल की त्रासदी से मिलता है। जिस असंतोष से इंगलैण्ड में चंद दर्जन पुलिस के सिपाहियों द्वारा पर्याप्त रूप से निपटा जा सकता है वही असंतोष वहाँ एक गम्भीर मामला बन जाता है जहाँ करोड़ों पौंड कीमत की सम्पत्ति और कई हजार लोगों की जिन्दगियाँ बिल्कुल अखंडित व्यवस्था पर निर्भर करते हैं। यह कोई सवाल नहीं है कि विद्रोह को अंतत: सफलता मिल सकती है कि नहीं। एंग्लो-इंडियन समुदाय पूरी तरह इस बात से अवगत है कि इंगलैण्ड बदला ले सकता है, लेकिन वह यह भी जानता है कि इंगलैण्ड की मदद आने में काफी देरी हो चुकी हो सकती है। ऐसी स्थिति में रहनेवालों में खतरे को बढ़ा-चढ़ा कर रखने की प्रवृत्ति होती है जैसे जमैका की गोरी आबादी ने बढ़ा-चढ़ा कर रखा था, और इसके फलस्वरूप ज्यादतियाँ होती हैं, जैसा कि जमैका के सैनिकों ने किया था। सरकार के ऊपर इस बात की भारी जिम्मेवारी रहती है कि वह जनता में घबराहट की स्वाभाविक प्रवृत्ति का सामना करे; भारत सरकार और एंग्लो-इंडियन अखबारों के बीच में पूरी तरह मेल स्थापित होने से रोकने वाले कई स्थायी कारणों में से यह एक कारण है। भारत में अंग्रेज सरकार बहुत पहले से इस सम्बन्ध में अपने दायित्व को समझता था। असल में कई मौकों में लगेगा कि प्रतिक्रिया के चलते वह बिल्कुल विपरीत बिन्दु पर पहुंच गयी है; बाहरी समुदाय ने खतरे को जितना बढ़ा-चढा कर देखा, अधिकारीगण ने उससे भी खतरनाक ढंग से खतरे को कम करके आँका था।

संथाल विद्रोह के समय पाया गया कि सरकार इस भावना से बिल्कुल सराबोर थी। एक समकालीन लेखक ने बयान किया कि आखिर जब चोट की गयी तब विद्रोहियों से 80 मील दूरी के अंदर 1200 सैनिक उपलब्ध नहीं थे। पूरा एक पखवारा संथाल लोग पश्चिमी जिलों में चारों तरफ आग फैलाते रहे। अब हथियार बन्द जनता नेताओं के नियन्त्रण में नहीं थी जिन नेताओं ने जनता को चालू कर दिया था; और जुलाई के अन्त तक, बीसियों गाँव जलाये जा चुके थे, हजारों मवेशी भगाये जा चुके थे; हमारे सैनिकों को पीछे धकेल दिया गया और दो अंग्रेज महिलाओं समेत कई अंग्रेजों की हत्या कर दी गयी। कई छोटे अंग्रेज केन्द्र और कारखाने लुटेरों की दया पर थे; और 1857 की गदर के अत्याचारों का पूर्वानुमान 1855 में न किये जाने का कारण अवसर का अभाव नहीं, बल्कि संथालों की स्वाभाविक नरमी थी; उनके केवल एक नेता ने अंग्रेज निवासियों पर हमला किया और वह भी आत्मरक्षा में। सरकार ने तुरन्त सेना भेजी, लेकिन बरसात शुरू हो गयी थी और कई दिनों तक नदियां दुर्गम बन गयी थीं। विद्रोह को कुचलने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया हुआ एक अधिकारी कहता है,

"एक शाम को, जब मेरा रेजिमेन्ट बैरकपुर में था, कर्नल ने मुझे बुलाया। और अगले दिन सुबह को एक सैनिक टुकड़ी को लेकर बीरभूम में रानीगंज के लिए कुच करने का आदेश दिया, क्योंकि पहाड़ी जनजातियों ने लड़ाई छेड़ दी है। इस मामले के बारे में मैंने पहले कुछ नहीं सुना था और न ही, जहाँ तक मुझे याद है, इसके बारे में सैनिक हलकों में कोई चर्चा हुई थी। अगले दिन भोर को 4 बजे मैंने कूच की और नास्ते के समय तक ट्रेन से बर्दवान पहुंच गया। कमिशनर (प्रांत के उस डीवीजन का मुख्य असैनिक अधिकारी) मेरे पास आया और मुझे बीरभूम की राजधानी सूरी जाने का आदेश दिया क्योंकि उसपर तत्काल हमले का खतरा था। हम दो दिन और एक रात चले। रास्ते में लगातार बारिश होती रही और मेरे सिपाहियों को नियमित ढंग से भोजन नहीं मिला। जब हमने सूरी के नजदीक पहुंचे तब हमने पाया कि हर गाँव में आतंक फैला हुआ था। आंखों में आँसू लिये हमारे स्वागत में काफी संख्या में हिन्दू लोग सड़क के किनारे खड़े थे और मेरे थककर चूर हुए सिपाहियों को मिठाइयाँ और चावल दिये। सूरी में हमने पाया कि स्थिति, अगर सम्भव हो तो बदतर थी। एक अधिकारी अपने घोड़े को दिन-रात तैयार रखा हुआ था, लगता था कि हड़बड़ी में जेल को मजबूत बनाया गया है और कहा जाता है कि खजाना के अधिकांश धन को किसी कुएँ में छिपा कर रखा गया था, पता नहीं सच क्या है।"

केन्द्र सरकार इस आतंक को मानने के लिए तैयार नहीं थी। वह उसके सामने प्रस्तुत सबूतों के आधार पर ही कोई भी कार्रवाई करने के लिए तैयार थी और स्थानीय अधिकारियों ने महसूस की हुई स्थिति से कहीं अधिक शांत ढंग से रिपोर्ट भेजी। प्रांत के अभिलेखों से स्थिति की पर्याप्त जानकारी नहीं मिलती है। भारतीय अधिकारी डर फैलाने वाले चरित्र से सबसे अधिक डरता है और चूँकि घटना स्थल पर मौजूद अधिकारी लोग तूफान का पूर्वानुमान नहीं कर सके थे इसलिए विस्फोट होने के बाद उसे कम करके आंकने की स्वाभाविक प्रवृत्ति। और यह भी वगैर छिपाने की किसी इरादे से; उनको इस बात का होश भी नहीं था कि उनकी रपटों से गुमराह हुआ जा सकता है। हर मामले में उनकी सटीकता पर ऊँगली उठायी नहीं जा सकती; लेकिन तथ्यों से निकाले गये निष्कर्षों से यह प्रवृत्ति प्रकट होती है। कुछ ही महीने पहले, उनमें से कुछ लोगों ने सूचना दी थी कि इनके अधिकार क्षेत्र में अपराध काफी कम हो गये हैं, नयी और अधिक असरदार पुलिस का प्रवेश किया गया है और लोग अभूतपूर्व ढंग से सन्तुष्ट हैं या कुल मिलाकर जिला इतना समृद्ध कभी नहीं रहा। फरवरी के महीने में इस ढंग से लिखे हुए लोगों को यह समझने में समय लगा कि जुलाई के महीने में उनका जिला विद्रोह का केन्द्र बना हुआ है। 5 से 50 लोगों के गिरोहों द्वारा रात में हमले होना बंगाल में हमेशा एक आम बात थी और सीमा रेखा खींचना मुश्किल था कि किस चरण में वे अपराध नहीं रहकर खुले विद्रोह का रूप धारण कर लेते हैं। एक ही उदाहरण काफी है। एक बंगाली गांव की लूट के बारे में बीरभूम के मजिस्ट्रेट ने लिखा, "पूरी जाँच-पड़ताल से प्रमाणित होता है कि यह बंगाल की आम घटनाओं में से एक है, जहाँ डकैत साहसी, बहादुर और दृढ़-निश्चय थे, बंगाली डरपोक और असहाय तथा गांव के सभी चौकीदार अपनी जगहों पर अनुपस्थित थे।" यह संभव है कि इस खास मामले में मजिस्ट्रेट का अनुमान सही हो, लेकिन इसी प्रकार के कई मामलों में निःसन्देह उन्होंने विद्रोह को डकैती समझ लिया होगा। प्रत्येक मजिस्ट्रेट अधिक से अधिक संभव समय तक यह स्वीकार नहीं

करता था कि उसका जिला सरकार के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह में खड़ा हो गया है और जिनको बगावत करने के आरोप में फाँसी चढ़ा दिया जाना चाहिए उन पर डकैती का अभियोग लगाता था, या "लूटने के उद्देश्य से तथा शांति भंग करने के लिए घातक हथियारों के साथ गैरकानून एवं उपद्रव करते हुए एकत्रित होने का" अभियोग लगाता था। कई हफ्ते कोर्ट में यह ढोंग चलता था और उधर बाहर में दारूण घटनाएँ हो रही थी। एक असैनिक अधिकारी को यह स्वीकार करने में वैसी स्थिति का सामना करना पड़ता था कि उसकी जनता विद्रोह कर रही हैं और सत्ता उसके हाथ से खिसक गयी है।

इसलिए सरकार पहले रिपोर्टों के आधार पर निर्णय लेते हुए घबराने से इन्कार कर दिया। उसने सेना भेजी, लेकिन उसे इस बात की बेचैनी थी कि कहीं मार्शल लॉ की ज्यादतियाँ न बरती जायें और पिछली शताब्दी में सीमा पर के अशांत जिलों के पूर्वानुभवों का ख्याल करते हुए नागरिक अधिकारियों के नियंत्रण में सैनिकों को भेजा। लेकिन ऐसा करते समय उसने 1788 में श्री कीटिंग की स्कूल के कलेक्टर और 1855 के कलक्टर में फर्क नहीं किया। श्री कीटिंग न्याय शास्त्र के बारे में कुछ नहीं जानते थे; लेकिन उन्होंने कब्जे में रखने के मार्गों को चुना, अपने सैनिकों का बँटवारा किया और पूरी योग्यता के साथ उनकी गतिविधियों का संचालन करता था। 1855 का कलक्टर एक बेहतर वकील था और अधिक स्वच्छ हाथों से जिले का प्रशासन चलाता था, लेकिन उसे रण-कौशलों के बारे में कुछ पता नहीं था; और अभी उसे दी गयी जिम्मेवारियों का पालन करने की उसकी क्षमता नहीं है और न ही वह ऐसा कोई स्वांग करता था। उसकी सैनिक व्यूह रचना ने उसे उसके तहत लड़ने के लिए भेजे गये सिपाहियों की नजरों में हास्यास्पद बना दिया, अंग्रेज छावनी में अनबन फैला रहता था और विद्रोही बाहर में यथेच्छा लूट-मार करते थे।

25 जुलाई को सरकार ने समझा कि उसे अधिक कड़े कदम उठाने चाहिए और उसने बलवाइयों को खतम करने की जिम्मेवारी एक अनुभवी कमान्डर को सौंपी और उसे दिये गये निर्देशों का मतलब यह निकलता है कि अशांत इलाकों को सेना के हाथ में सौंप दिया गया है। तब फिर वह नरम पड़ी, अपने आदेशों की पुनर्व्याख्या कर दी या वापस लिया और जेनरल के हाथ से स्वतन्त्र सत्ता हटा दिया। पत्र में लिखा गया था, "इसका उद्देश्य यह नहीं था कि सेना नागरिक सत्ता से स्वतन्त्र होकर खुद हमारी ही प्रजा के खिलाफ कारवाई करें; लेकिन बलवाइयों को तितर-बितर करने एवं गिरफ्तार करने तथा विद्रोह को कुचलने के लिए जरूरी सैन्य संचालन किस प्रकार किया जाये, यह निर्णय पूरी तरह सैनिक अधिकारियों के हाथों में रहना चाहिए।"

इस अधूरे निर्णय ने भी सैनिक कार्रवाई में एक नया जोश भरा, और कुछ समय में लगाकि इससे उद्देश्य की पूर्ति होती है। एक के बाद एक टुकड़ियों को पश्चिम की ओर दौड़ाया गया, देश-भक्त देशी भू-स्वामियों को हथियारबन्द किया गया और उनके नौकरों को अनुशासनबद्ध किया गया; अंग्रेज बागान मालिकों ने अभियान पर गये सैनिकों के लिए धन दिया; मुर्शिदाबाद के नवाब ने एक अच्छा हस्ति-बल भेजा और कहा कि वह उसका पूरा खर्च बहन करेगा; और विशेष अधिकारों से लैस एक स्पेशल कमिशनर को विद्रोह कुचलने के लिए नियुक्त किया गया।

जिस सीमा युद्ध में अनुशासित सैनिकों ने अर्द्ध-हथियारबन्द किसानों को कुचल डाला, उसके विवरण अपने आप में अप्रिय है और वे न ही विजेताओं को कोई गौरव प्रदान करते हैं और न युद्ध–कला में कोई सीख देते हैं। तेरह वर्ष बाद, संथालों का दमन करने वाले अधिकारियों से कारवाई की विशद जानकारी मुश्किल से प्राप्त की जा सकी। उनमें से एक ने मुझसे कहा, "वह युद्ध नहीं था, वह तो प्राणदण्ड देना था; हमें आदेश दिया गया था कि जब भी किसी गाँव का धुआँ जंगल से ऊपर उठता दिखाई पड़े तभी हम निकल पड़ें। मजिस्ट्रेट हमारे साथ जाता था। मैं अपने सिपाहियों के साथ गाँव को घेर लेता था और मजिस्ट्रेट बलवाइयों को आत्म-समर्पण करने के लिए कहता था। एक बार 45 संथाल एक मिट्टी के घर में शरण लिये हुए थे। मजिस्ट्रेट ने उनसे आत्म समर्पण करने के लिए कहा, लेकिन उसके जवाब में अध-खुले दरवाजे से तीरों की बौछार आयी। मैंने कहा, "श्रीमान मजिस्ट्रेट, यह जगह आपके उपयुक्त नहीं है।" और मैं अपने सिपाहियों के साथ गया और सिपाहियों ने दीवार में एक छेद की। मैंने बलवाइयों से कहा कि वे आत्म-समर्पण करें, नहीं तो मैं गोली चलाऊँगा। दरवाजा फिर आधा खुला और तीरों की एक बौछार आयी। सिपाहियों की एक कम्पनी आगे बढ़ी और छेद में से गोली चलायी। जब मेरे सिपाही बन्दूक में गोलियाँ भर रहे थे, मैंने फिर से संथालों को आत्म-समर्पण करने के लिए कहा। फिर से दरवाजा खुला और तीरों की एक झड़ी आयी। कुछ सिपाही घायल हो गये, हमारे चारों तरफ गांव जल रहा था, और मुझे सिपाहियों को अपना काम करने के लिए आदेश देना पड़ा। अन्त में जब दरवाजे से तीर निकलना कम हो गया तब मैंने निर्णय लिया कि अन्दर जाकर, सम्भव हो तो, कुछ लोगों को जिन्दा बचा लिया जाये। जब हम अंदर गये तो हमने देखा कि लाशों के बीच एक बूढ़ा आदमी खून से लथपथ खड़ा है। मेरा एक सिपाही उसको हथियार डाल देने के लिए कहते हुए उसकी ओर गया। बूढ़ा आदमी सिपाही की ओर झपटा और अपने फरसे से उसे मार गिराया।"

कमांडिंग अधिकारी ने आगे कहा, "वह युद्ध नहीं था; वे आत्म-समर्पण करना नहीं जानते थे। जबतक उनकी जातीय डुगडुगी बजती रहती है तबतक पूरा दल खड़े रहता है और गोली खाकर गिरने के लिए वे तैयार रहते हैं। अकसर उनके तीरों से हमारे लोग मारे जाते थे और इसलिए हमें उनके खड़े रहने तक गोली चलाना पड़ता था। जब उनके ढोलों का बजना रूक जाता है तब वे करीब एक चौथाई मील तक पीछे हट जाते हैं; तब फिर से ढोल बजने लगते और हम पहुंच कर गोली चलाने तक चुपचाप खड़े रहते थे। युद्ध में ऐसा कोई सिपाही नहीं था जो खुद पर शर्म न महसूस किया हो। अधिकतम कैदी घायल थे। वे उनके खिलाफ लड़ने के लिए हमारी भर्त्सना करते थे। वे हमेशा कहते थे कि उनकी लड़ाई बंगालियों से है, अंग्रेजों से नहीं। वे घोषणा करते थे कि अगर एक भी अंग्रेज को उनके पास भेजा जाता जो इनके खिलाफ हुई बेइन्साफी को समझता और उसे दूर करता तो कोई युद्ध नहीं हुआ होता। यह बात सच नहीं है कि वे जहर-बुझे तीरों का प्रयोग करते थे। इसके पहले इतने सच्चे इन्सानों से मेरी कभी भेंट नहीं हुई; उन्माद की हद तक वे बहादुर थे। उनके ढोल बजने बन्द होने तक मेरे एक ऑफिसर ने 75 लोगों को मार गिराया और तब दल पीछे हटा।"

इन कड़ी कार्रवाइयों के फलस्वरूप अगस्त के मध्य तक विद्रोही समतलों से हट गये। इसलिए एक घोषणा

जारी की गयी कि नेताओं को छोड़कर बाकी सबों को माफ कर दिया जायेगा; और सेना को दिये गये आंशिक अधिकार से भी ईर्ष्या कर रहे नागरिक अधिकारियों ने निवेदन किया कि अब उस अधिकार की जरूरत नहीं है। बीरभूम के मजिस्ट्रेट ने लिखा, "पिछले सात हफ्तों से सब कुछ शांत हैं। ग्रामीण अपने घरों को लौट गये हैं और किसान सामान्य रूप से अपने खेती में लग गये हैं। संथाल कहीं भी दिखाई नहीं पड़ते.....कहीं तीस मील दूर, किसी अन्य जिले में, वे चले गये हैं।" लेकिन यह शांति मात्र अस्थायी थी, और ठीक एक महीने बाद हमने देखा कि वही अधिकारी सूचित कर रहा है, "पिछले पखवारे के दौरान बलवाइयों द्वारा अस्सी गाँव लूट लिये गये और जला डाले गये हैं।" डाक आना बन्द हो गया, और जिले का तमाम पश्चिमोत्तर भाग उनके हाथों में है। एक दिशा में 3000 संथालों की सेना जिले में घुम रही है; अन्य एक दिशा में उनकी संख्या सात हजार है; नागरिक अधिकारी बाहर के केन्द्रों से भगा दिये गये, किसान अपनी जमीनों को छोड़कर चले गये हैं, और माफी की घोषणा के जवाब में जोरदार चुनौती और तिरस्कार सामने आया। संथालों और हिन्दुओं के बीच की अर्द्ध-आदिवासी जातियाँ और खुद हिन्दुओं की कई सबसे निचली जातियाँ भी इस बार विद्रोह में शामिल हो गयीं लगता है और अक्टूबर में होनेवाले बड़े त्यौहार को मनाने के लिए ब्राह्मण पुरोहितों को उठाकर ले जाया गया। फिर भी, अपनी सफलता के क्षणों में भी, संथालों में एक प्रकार के बर्बर क्षात्र-धर्म की कमी नहीं थी, और आम तौर पर किसी शहर को लूटने जाने के पर्याप्त समय पहले वे इसकी चेतावनी दे देते थे। सितम्बर के उत्तरार्द्ध (22 या 23 तारिख के इर्द-गिर्द) में इस प्रकार का एक संदेश मिलने पर बीरभूम की राजधानी में खलबल मच गयी। एक दिन एक हरकारा दौड़ा आया और बताया कि रास्ते में विद्रोहियों ने उसको पकड़कर उसके डाक के थैले छीन लिया और एक शर्त पर उसको छोड़ा कि वह साल की एक टहनी लेकर मजिस्ट्रेट के पास जाये। मजिस्ट्रेट ने सरकार को सूचना दी कि टहनी में "तीन पत्ते थे, याने तीन पत्ते उनके तीन दिन बाद आने का संकेत है।"

आम खतरे के बावजूद, अभी भी नागरिक एवं सैनिक अधिकारियों के बीच मतभेद बना रहा। मजिस्ट्रेट को सैन्य संचालन के कार्य से मुक्त कर दिया गया था; लेकिन चूँकि मार्शल लॉ की घोषणा नहीं की गयी थी इसलिए सेना व्यक्तिगत रूप से नागरिक अधिकारियों के अधीन ही रही। स्पष्ट सीमा रेखा नहीं खींची गयी थी कि नागरिक अधिकारियों का नियंत्रण कहाँ खत्म होता है; इससे लगातार गलतफहमियाँ होती रहीं, और हर चिट्ठी में इस बात का सरोष जिक्र रहता था।

नवम्बर के प्रारम्भ में, पश्चिमी जिलों में चार महीनों की तबाही के बाद सरकार ने अनिच्छापूर्वक मार्शल लॉ जारी की। उसने सैनिक कब्जा की सख्तियों से बचाने का निष्फल प्रयास किया; लेकिन सरकार की नरमी के चलते हमारी सेना के बदले विद्रोहियों का दखल कायम रहा। उपद्रवों को समझते हुए स्थानीय अधिकारियों ने पहले उनको फैलने दिया और तब, विद्रोहियों द्वारा पूरे इलाके को हड़प लेने तक, सेना के हाथों में सत्ता दे देने के खिलाफ कुड़मुड़ाते रहे। जैसे ही मार्शल लॉ जारी हुई, स्थिति बिल्कुल बदल गयी। अधिकारियों के झगड़े समाप्त हो गये, और ब्रिगेडियर और कलक्टर के बीच आपूर्तियों की मांग ही सम्वाद

का एक मात्र विषय रह गया। चौकियों के घेरे ने, जिनमें कहीं-कहीं 12 से 15 हजार सैनिक थे, शीघ्र ही संथालों को समतल इलाकों से पीछे धकेल दिया, और 6 हफ्तों में जगलों में भटके लोगों को पकड़ना छोड़कर कुछ नहीं बचा। शीतकाल (1855-56) समाप्त होने के पहले विद्रोहियों ने औपचारिक रूप से अपने को सौंप दिया और उनमें से हजारों लोग एक नयी सड़क पर शान्तिपूर्वक काम करने लगे।

जो सरकार स्थानीय अधिकारियों की रपटों से गुमराह होकर तथा लोगों के प्रति अपनी परम्परागत नरम-नीति से प्रेरित होकर विद्रोहियों से तुरन्त निपटने में नाकाम रही, उसी ने असन्तोष के कारणों का पता लगाकर उनको दूर करने में तनिको देरी नहीं की। सरकार ने इसके पहले बहु-प्रशंसित सस्ते एवं व्यवहारिक प्रशासन की बारीकी से जाँच-पड़ताल करने का निर्देश जारी किया। संथालों ने कचहरियों के दूर में अवस्थित होने की शिकायत की थी : अब खुद सरकार के कर्मचारियों ने रपट दी की संथाल सीमा पर अंग्रेज अधिकारी "बहुत कम नियुक्त है, और इतने दूर नियुक्त हैं कि इससे उनके नियन्त्रण में दिये गये विशाल इलाके की देख-रेख नहीं की जा सकती है।" जल्द ही यह बात स्पष्ट हो गयी कि पहले के प्रशासन की अर्थव्यवस्था का काम बगैर बदले में कुछ दिये टैक्स वसूलना भर था। इस अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप जो विद्रोह हुआ है उस पर राज्य को 6 महीनों में इतना अधिक खर्च करना पड़ा जितना दस साल एक अच्छी सरकार चलाने में नहीं लगता है। शांति-व्यवस्था कायम होते ही तत्कालीन गवर्नर ने अपने पूर्व अधिकारियों की गलतियों को सुधारा। उन्होंने संथाल इलाके को एक अलग जिला बनाया। एक अधीनस्थ विभाग से लिये गये अकेले एक अधिकारी के बदले शपथ लिए हुए सर्वाधिक योग्य मानी गयी सिविल सर्विस को आदिवासी सीमा के प्रशासन के लिए बुलाया गया। सरल किसानों पर आतंकराज कायम की हुई पुरानी पुलिस को हटा दिया गया और अंग्रेज अधिकारी संथालों की आबादी वाले सभी केन्द्रों में न्याय करने लगे और इसके अलावा वे नियमित रूप से गाँवों का दौरा करते थे। न्याय को सस्ता बनाया गया; और उसे हर दरवाजे पर पहुंचाया गया; और समकालीन लेखकों ने शिकायत की कि सरकार ने विद्रोहियों द्वारा मांग की गयी सभी चीजों की पूर्ति करके विद्रोह का करीब-करीब अनुमोदन कर दिया है।

बाहरी मंतव्यों के प्रति बंगाल सरकार की परम्परागत उदासीनता के फलस्वरूप हुए विद्रोह की शुरूआत में अगर उसने विवेकहीन नरमी बरती थी तो उसकी उसी नीति ने विद्रोह के अंत में अत्यधिक गम्भीर अपराधों को होने से रोका भी है। आम जनता के अनुसार जो लोग खुलकर 6 महीने बलवा करते रहे, शहरों को जलाये और कलकत्ते से एक सौ मील दूरी के अंदर के जिलों पर जबरन कब्जा कर रखे थे उनके लिए जितनी भी बड़ी सजा दी जाये उसे बहुत अधिक निर्मम नहीं कहा जायेगा। उत्तेजना के समय अखबारों में प्रकाशित लेखों से उद्धृत करना शायद अनुचित होगा; लेकिन एंग्लो-इण्डियन समुदाय में गुस्सा कितना प्रचण्ड और गहरा था इसका अंदाजा सब कुछ बीत जाने के बाद फुरसत में लिखे गये एक लेख से लगाया जा सकता है। यह लेख "रिव्यू" के लिए लिखा गया था, जो भारतीय पत्रिकाओं में उचित ही सबसे प्रमुख है। लेख में कहा गया : "एक जंगली बर्बर अचानक मानव परिवार में उससे ऊँचे स्तरों के लोगों के साथ सामाजिक

सम्पर्क में आ गया, जो करीब-करीब उसी प्रकार है जैसे कोई वयस्क बाघ जंगल में अपने मांदों और अपने अड्डों से निकाल लाया गया हो।" संक्षेप में, संथालों के प्रति की गयी बेइन्साफी या उनके शांतिपूर्ण प्रयासों के बारे में कोई भी, कुछ भी नहीं जानता था। उनके लिए वे मात्र "वयस्क बाघ" या "खून के प्यासे जंगली" थे; और समीक्षक वास्तव में केवल बलवा किये हुए लोगों को सजा देने की साधारण योजना को अस्वीकार करते हुए प्रस्ताव रखता है कि उनको समुद्र के पार निर्वासित कर दिया जाये; केवल एक या दो नेताओं को नहीं, बल्कि प्रभावित जिलों की तमाम आबादी को।

भारत में बसे हुए हमारे देशवासियों जैसे मुठ्ठी भर लोग जिस स्थिति में हैं उनसे इस प्रकार के हल्ले की स्वभावतः उम्मीद की ही जा सकती है। इससे सरकार की कार्रवाई में कोई बाधा नहीं आयी। संथालों को बाकायदा विचार का मौका दिया गया, और उन्हीं को भुगतना पड़ा जिन्होंने विद्रोह में वास्तविक रूप से भाग लिया था। उनमें अधिकांश लोगों ने बहुत धैर्य का परिचय दिया, कार्यवाही के दौरान गर्व के साथ स्वीकार किया कि उन्होंने भाग लिया है और उन्होंने युद्ध के कारणों के बारे में सरकार की अज्ञानता की निन्दा की। बीरभूम जेल में उनके एक नेता ने कहा, "तुमलोगों ने हमें तुम्हारे के खिलाफ लड़ने के लिए मजबूर किया है। हमने तो केवल उचित मांग की थी और तुमने कोई जवाब नहीं दिया। जब हमने हथियारों से अपनी समस्या का समाधान करने की कोशिश की तब तुमने हमें जंगल में चीतों की तरह गोली चलाकर मार दिया।"

□ 1965 में इण्डियन स्टडीज: पास्ट एण्ड प्रेजेंट, कलकत्ता द्वारा छापे गये संस्करण से, पृष्ठ 125 से 133 तक लिया गया अंश □

छोटानागपुर-संथालपरगना में बड़े बाँधों का विकल्प—III

वीर भारत तलवार

[पिछले दो अंकों में आपने पढ़ा कि इस शताब्दी की शुरूआत में झारखण्ड में सिंचाई की एक परम्परागत प्रणाली मौजूद थी। लेकिन अंगरेजी राज में सामन्ती-भू-स्वामित्व और सिंचाई सुविधाओं के लिए रैयत का लगान बढ़ा देने की प्रथा के कारण उस सिंचाई प्रणाली का पतन होता गया। उस प्रणाली में कुछ दोष भी थे। कृषि वैज्ञानिक डॉब्रस ने शोध करके उसी प्रणाली को व्यवस्थित ढंग से फैलाना चाहा था ताकि बार-बार पड़नेवाले सूखा और अकाल से खेती को बचाया जा सके। लेकिन परम्परागत सिंचाई प्रणाली से कृषि-उत्पादन को बढ़ाना मुमकीन न था।]

एक ओर बांधों और आहरों की परम्परागत प्रणाली है जिससे खेती की उत्पादकता में कोई वृद्धि नहीं होती, दूसरी ओर बड़े और मंझोले पैमाने की आधुनिक सरकारी सिंचाई योजनाएँ हैं जिनसे बड़ी संख्या में विस्थापन होता है, जमीन डूबती है और हर तरह की तकलीफ और असंतोष पैदा होता है।

इस स्थिति में सवाल क्या खड़ा होता है ?

अगर स्थिति यह है कि छोटानागपुर-संथालपरगना में पानी की कोई कमी नहीं है, करीब 50 ईंच पानी हर साल बरसता है जो झरनों और नालों के रूप में नीचे उतर कर घाटियों में बह जाता है और जमीन लहरों की तरह ऊँची-नीची है, तो, सवाल यह नहीं है कि पानी का विशाल भंडार कायम करके ऐसा बड़ा बाँध बनाया जाए जिसमें गांव के गांव और खुद वे खेत भी डूब जाएँ जो किसानों की आजीविका के साधन हैं। सवाल यह है कि पानी के इन अनगिनत प्राकृतिक स्रोतों का उन्हीं जगहों पर कैसे इस्तेमाल किया जाए जिससे वहाँ खेती को जरूरत के समय पानी मिल जाए और स्थानीय प्रकृति, पर्यावरण तथा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को कोई गम्भीर नुकशान भी न पहुंचे। इसका जवाब उन सभी जगहों पर, जहाँ पानी का कोई भी प्राकृतिक स्रोत मौजूद है, छोटे-छोटे बाँध बनाकर खेतों को पानी मुहैय्या करना है। जब सरकारी इंजिनीयर बड़े बाँधों का प्रस्ताव लेकर सामने आते हैं तो वे छोटानागपुर-संथालपरगना की भौगोलिक स्थिति और यहाँ मौजूद प्राकृतिक जल स्रोतों का जरा भी ख्याल नहीं करते। वे स्थानीय दृष्टिकोण से सोचते ही नहीं। वे तो सिर्फ पहले से बने-बनाए एक तकनीकी ढाँचे को छोटानागपुर-संथालपरगना पर थोप देते हैं और अगर उनके रास्ते में हजारों एकड़ खेत, सैकड़ों गाँव, पक्की सड़कें, रेल लाइनें, तालाब, भवन, स्कूल, पोस्ट ऑफिस और खुद पानी के दूसरे प्राकृतिक स्रोत भी पड़ते हैं तो वे इन सबको उखाड़ फेंकते हैं यह कहते हुए कि विकास कार्यों के लिए कुछ तो कीमत चुकानी पड़ेगी। कैसा घातक दृष्टिकोण है ! घातक इसलिए कि इस दृष्टिकोण के मुताबिक बाँध समाज के लिए नहीं बल्कि समाज बाँध के लिए साबित होता है। हम यहाँ इंजिनीयरों के तकनीकी सवालों में उलझना नहीं चाहते क्योंकि एकबार बड़ा बाँध बनाने का फैसला जब

आप ले लेते हैं तो उसके निर्माण के अपने नियम और अपनी आवश्यकताएँ तय हो जाती हैं जिन्हें पूरा करना ही होगा। इसलिए असली सवाल बड़े बाँधों को बनाने की तकनीक में सुधार लाने या हेर-फेर करने का नहीं है। सवाल उस बुनियाद का है जिसपर बड़े बाँध बनाने का फैसला लिया जाता है। वह बुनियाद गलत है। छोटानागपुर-संथाल परगना में बड़े बाँध बनें, इसकी कोई वास्तविक बुनियाद नहीं। यह एक थोपा ढाँचा है। किसी भी जगह बड़े पैमाने के बाँध बनाने के लिए दो शर्तों का होना जरूरी है :—

1. उस जगह पानी के अनगिनत छोटे-छोटे स्रोतों का अभाव हो। सिर्फ कुछ-एक नदियाँ हों। इस हालत में जरूरी हो जाता है कि पानी को किसी एक बड़े बाँध में जमा करके उसे उन जगहों तक पहुंचाया जाए जहाँ पानी का कोई प्राकृतिक स्रोत नहीं है। और

2 बाँध बनाने वाली जगह भले ही कुछ ऊँचाई पर हो, पर उसके नीचे का इलाका समतल जरूर हो ताकि नहरों के जरिए पानी दूर तक ले जाया जा सके।

बड़े बाँधों के लिए कुछ और भी शर्तें जरूरी हो सकती हैं, पर ये दो शर्तें बुनियादी हैं।

छोटानागपुर-संथालपरगना ऊपर कही गई दोनों ही शर्तों को पूरा नहीं करता। स्थिति इसके उल्टी है। यहाँ पानी के अनगिनत स्रोत हैं। हर जगह झरने और नाले हैं जो छोटी नदियों से जुड़े हुए है और छोटी नदियाँ बड़ी नदियों से जुड़ी हुई हैं। शायद ही कोई गाँव होगा जिसके पास से कोई नाला न बहता हो। चारों ओर पहाड़ की शृंखला और टीले होने की वजह से स्वाभाविक है कि उनसे नीचे उतरनेवाला पानी नालों की शक्ल ले ले और चट्टानों के नीचे दबे पानी के भंडार झरनों के रूप में फूट पड़ें। इसलिए छोटानागपुर में किसी एक जगह पानी का विशाल भण्डार कायम करने का सवाल नहीं उठता। हर जगह पानी के प्राकृतिक स्रोत उपलब्ध हैं। किसी एक जगह के पानी का वहाँ पर इस्तेमाल किया जा सकता है; उसे नहर जरिए कहीं और ले जाने की जरूरत नहीं क्योंकि दूसरी जगहों पर भी पानी मौजूद है। विभिन्न जगहों पर उपलब्ध पानी का वहाँ इस्तेमाल न करके, इसके बदले किसी एक जगह बड़ा बांध बनाकर फिर पानी को उन जगहों तक ले जाना जहां पहले से पानी के स्रोत मौजूद हैं, यह ऐसी बेकार की कसरत है जिसे किसी भी विवेकपूर्ण तर्क से उचित नहीं ठहराया जा सकता।

बड़े बांधों के लिए अनिवार्य दूसरी शर्त भी छोटानागपुर-संथालपरगना में पूरी होती नहीं दिखाई देती। पूरा इलाका असमतल है। अगर कोई यहां की टोपो शीट पर कंटूर लाइन को देखे तो वह लगातार बलखाती, कभी बिल्कुल ऊपर और कभी बिल्कुल नीचे जाती कंटूर लाइनों को देखकर हैरान रह जाए। एक गांव ऊपर पड़ता है तो दूसरा नीचे। यह भौगोलिक स्थिति आमतौर पर हर जगह दिखाई देती है। जाहिर है, ऐसी असमतल, ऊँची-नीची जमीन पर बहुत पैसे खर्च करके प्राकृतिक पर्यावरण को बर्बाद किए बिना नहरों के जरिए पानी दूर तक नहीं ले जाया सकता। नहर के रास्ते में न सिर्फ ऊँची-नीची जमीन की रूकावट आती है, बल्कि टीलों, पहाड़ियों और चट्टानों की भी रूकावट आती है। इसी कारण छोटानागपुर में जो मंझोले बाँध बनाए गए हैं, उनकी वास्तविक असफलता हर कहीं दिखाई देती है। पिछले बीस सालों के अन्दर जितना रुपया बहाकर ये बाँध बनाए गए हैं, उनकी तुलना अगर हम बाँधवाले इलाकों में हुए खेती की पैदावार के वास्तविक विकास से करें तो दोनों की बीच चौड़ी खाई दिखाई देगी। सिंचाई परियोजनाओं की रिपोर्ट में कमांड एरिया के

अन्दर जो गाँव दिखलाए गए हैं, व्यवहार में उन सभी गांवो तक पानी कभी पहुंचता नहीं। इसका मुख्य कारण सिंचाई के लिए आवश्यक दूसरी सुविधाओं के अभाव के साथ-साथ जमीन का असमतल होना है। उदाहरण के लिए गुमला जिले के भरनों प्रखण्ड में परास बाँध से निकाली गई नहर अपने अगल-बगल के सिर्फ सौ गज दूर पड़नेवाले खेतों को भी कई जगह पानी नहीं दे पाती क्योंकि ये खेत ऊँचाई पर पड़ते हैं, हलाँकि इंजीनियरों ने इन्हें कमांड एरिया के अन्दर दिखलाया है। ऐसी ही स्थितियों पर व्यंग करते हुए मुण्डारी के कवि रामदयाल ने अपनी "शिकायत" कविता में लिखा था —

मेरे राजा
कैसी है तुम्हारी यह नहर—
पानी कम
और लम्बाई हिसाब से बाहर !
पटता है केवल एक छोर
और बाकी
रह जाता है ऊसर।

छोटानागपुर-संथालपरगना में कई जगह नहर का पानी खेत में जाने के बजाय खेत का पानी बहकर नहर में आता है।

समस्या का सही हल छोटे बाँध हैं। छोटे बाँध यहाँ स्थिति का तकाजा हैं। छोटानागपुर में नालों की भरमार हैं। बड़े नालों को कई जगह लोग छोटी नदी भी कहते हैं। कोई भी व्यक्ति यहाँ की टोपोशीट्स में नालों को दर्शाने-वाली पतली रेंगती अनगिनत रेखाओं को देख सकता है। ये नाले आगे चलते हुए दूसरे नालों में मिलकर और बड़े नाले बनाते चलते हैं। इन नालों के पास ही गाँव और खेत आबाद हुए हैं। आदिवासी लोकगीतों में बार-बार नालों और नदियों का जिक्र आता है—"मैंने देश को डाड़ी के पानी में घूमते देखा है," "हे नदी की तराई में रहनेवाले गरूड़ा पंडुक ! तुम कहाँ पर उतरते हो ?" "नदी के किनारे की रेत पर, कदम्ब के वृक्ष के नीचे तिरतिरी की आवाज बांसुरी में बज रही" जैसे गीतों की पंक्तियां और बाढ़ की स्मृति दिलाने वाला एक गीत—"हे मां, हे बाप, मैं नदी की धारा में बह रहा हूं !" मुण्डा लोककथाओं में जल के प्राकृतिक स्रोत को देखकर वहां गांव बसाने की कहानियां मिलती हैं। इसी कारण कई गांवों के नाम के साथ पानी का नाम भी जुड़ा हुआ है।

किसी बड़ी नदी पर एक बहुत बड़ा बांध बनाने के बजाय इन नालों पर छोटे-छोटे बांध बनाए जा सकते हैं जिससे उनके आस-पास के खेतों की सिंचाई हो सकती है। एक बांध इतना ही बड़ा होगा कि उससे एक गांव की सिंचाई हो जाएगी। चूँकि एक ही नाला कई गांवों से होकर गुजरता है, इसलिए एक ही नाले पर कई बांध अलग-अलग जगहों पर बांधे जा सकते हैं। पानी के बहाव और बँटवारे की समस्या का हल हम आगे देखेंगे। कहीं गांवों के खेत नाले से नीचे पड़ते हैं, कहीं ऊपर। जहाँ खेत नीचे हैं, वहाँ बांध से छोटी नहर या नालियाँ निकालकर सीधे सिंचाई हो सकती है। जहाँ खेत ऊपर है, वहाँ बांध के पास कुँआ बनाकर वहाँ से पानी को बिजली के पम्प से ऊपर खेतों तक पहुंचाया जा सकता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन बांधों को खुद के लोग आपसी सहयोग और श्रमदान से बना सकते हैं। जहाँ जरूरत हो, सरकारी, गैर-सरकारी संस्थाओं से तकनीकी तथा वित्तीय मदद ली जा सकती है। इन बांधों से न कोई गाँव उजड़ेगा, न खेत। अगर कहीं किसी की निजी जमीन डूबती भी हो तो वह जमीन इतनी कम होगी कि गाँव वाले मिलकर उसे पूरा मुआवजा या बदले में कुछ

दूसरी सुविधाएँ, जैसे मछली पकड़ने की सुविधा, दे सकते हैं। ऐसे बाँधों पर नियन्त्रण गांववालों का ही रहेगा। समय-समय पर इनकी सफाई और मरम्मत भी आपसी सहयोग से की जा सकती है। इन बांधों से इतना पानी मिल जाएगा कि हर जगह धान की खेती की जा सके और कुछ जगहों पर धान के अलावा आलू और गेहूँ की खेती भी हो सकेगी, साल में दो फसल पैदा की जा सकेगी।

ऐसे छोटे बांधों का विकल्प सिर्फ कल्पना नहीं है। ऐसे कुछ छोटे बाँध आज छोटानागपुर में वास्तविक रूप से मौजूद हैं। इनको असल में कई जगह बनाया गया है और इनसे खेती की ऊपज में निश्चित रूप से बढ़ोत्तरी हुई है। ऐसे बाँधों से सिंचाई का काम वास्तविक रूप से गाँववालों के नियन्त्रण में हो रहा है। इनकी व्यवस्था में कुछ समस्याएँ भी हैं जिन्हें हल करने की जरूरत है। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ हम ऐसे छोटे बाँधों के कुछ वास्तविक उदाहरण पेश करेंगे जिनसे इनके तकनीक — इन्हें बनाने की विधि और इनसे सिंचाई करने की प्रणाली— समझ में आ सके। ये उदाहरण मैंने छोटानागपुर में सिंचाई प्रणाली से सम्बन्धित अपने एक शोधकार्य के दौरान फील्ड-वर्क में जमा किए थे।

सबसे पहले गुमला जिले के पुग्गू-तर्री बहरा टोली का उदाहरण लिया जाए।

1. पुग्गू-तर्री बहरा टोली

पुग्गू-तर्री बहरा टोली गुमला शहर के पास, गुमला कालेज से सटे हुए पुग्गू-तर्री गाँव का एक टोला है। यहाँ 36 उरांव परिवार रहते हैं। इनमें से 15 परिवार कैथोलिक ईसाई हैं, बाकी सब गैर-ईसाई। यहाँ 1972 में एक बांध बनाया गया। बाँध को बनाने में गाँव के सभी लोगों ने मेहनत की। गाँव के एक आदमी डग्नेस खल्को ने, जो वकील भी हैं, अगुआ भूमिका निभाई। बाँध बनाने के लिए राँची के फादर डि-ब्राउर और **सोसायटी फॉर रूरल इण्डस्ट्रीलाइजेशन** नामक संस्था के प्रोफेसर बसु तथा प्रोफेसर डे ने सलाहकार के रूप में मदद दी।

बाँध जिस नाले पर बनाया गया, वह नाला गाँव के नीचे पड़ता है।

नाले की चौड़ाई 20-25 फुट के करीब है। इसमें पानी हमेशा रहता है, गर्मियों में भी। नाले में पानी के प्रवाह को रोकने के लिए कंक्रीट की एक पक्की दीवार खड़ी करके बाँध बाँधा गया। नाले पर बाँध की ऊँचाई तल से पांच फुट ऊपर है और तल के नीचे भी पांच फुट। चौड़ाई तीन फुट (ताकि ऊपर से चलकर नाला पार किया जा सके) और लम्बाई 20-25 फुट के करीब है। बांध की इस दीवार के बीचो-बीच तीन फुट जगह खाली छोड़ दी गयी। इस खाली जगह पर दोनों ओर बांस के खूँटे गाड़ कर उनके बीच मिट्टी भर दी गई। इससे पानी रूककर जमा हो गया। जब कभी नाले में पानी का बहाव ज्यादा होता है तो अतिरिक्त पानी पाँच फुट ऊँची दीवार के ऊपर से बहकर चला जाता है। पानी के साथ-साथ मिट्टी भी बहकर आती है, खासकर बरसात के दिनों में, जो पानी के साथ जमा होती जाती है। बरसात के दिनों में बाँस के खूटों को हटाकर जगह खाली कर देने पर पानी का तेज बहाव बह जाता है और उसी के साथ मिट्टी भी निकल जाती है। बरसात के बाद खूँटे फिर से जोड़ लिए जाते हैं।

नाले के दाहिने तट पर (गाँव की ओर) कटाव करके एक जलाशय बनाया गया जिससे बाँध से नाले में जमा पानी जलाशय में आकर भर गया। पहले नाले के तट को पूरी तरह 20-25 फुट तक काट दिया गया था, जलाशय बनाने के लिये। इससे जलाशय और नाला, दोनों मिलकर एक हो गए थे और नाले की मिट्टी जलाशय में

भरकर उसे उथला बना देती थी। यह ढंग सही न था। अनुभव से समझकर इस गलती को जल्द ही सुधार लिया गया। 20-25 फुट तट काटने के बजाय सिर्फ दो-तीन फुट चौड़ा निकास मार्ग खोदा गया। मिट्टी और बालू जलाशय में अब भी भर जाता है जिसे ग्रामीण हर साल मिलकर साफ करते हैं। जलाशय के पास, 20 फुट की दूरी पर 10 फुट व्यास वाला और 15 फुट गहराई वाला एक कुँआ बनाया गया। एक कंक्रीट की पाइप से जलाशय और कुँए जोड़ दिया गया ताकि जलाशय का पानी कुँए में आता रहे। कुँए के आगे एक पक्का घर बनाया गया जिस पर खपरे की छत है। इस घर में बिजली की 2 मोटरें बैठाई गई—एक पांच एच०पी० की, दूसरी 10 एच०पी० की। बिजली की मोटरों से पम्प करके कुँए का पानी पाइपों के जरिए ऊपर खेतों तक पहुंचाया जाता है। ये पाइपें शुरू में 10 फुट तक लोहे की बनी हैं क्योंकि मोटर के झटकों को सह सकें, कंक्रीट की पाइप इन झटकों से टूट सकती है। आगे पाइपें सीमेन्ट की बनी है। 10 एच० पी० मोटर से जुड़ी बड़ी पाइप 9 इंच व्यास की और 5 एच० पी० मोटर से जुड़ी पाइप 5 इंच व्यास की है। पाइपों में आगे जगह-जगह पर (कुल तीन जगहों पर) ताले लगाये गए हैं जिन्हें जरूरत मुताबिक खोला या बन्द किया जा सकता है। अगर पानी को सीधे आगे भेजना है तो ताला खुला रखा जाता है; अगर पानी को रोक कर दाएँ या बांए ओर के खेतों में भेजना है तो ताला बंद कर दिया जाता है। पानी को दाएँ या बांए ले जाने के लिए कंक्रीट की पाइपें लगी हैं जिनका दूसरा छोर खेतों के पास पहुंचा हुआ है और वहाँ से पानी जमीन पर बनी नालियों से खेतों में जाता है। मुख्य पाइप पर लगे ताले लकड़ी के बने हुए हैं—मुग्दर की शक्ल में। इन्हें पाइप में ऊपर से नीचे धँसा देने से ताला बन्द हो जाता है और ऊपर खींच लेने से ताला खुल जाता है।

मुख्य पाइप में आगे चलकर एक चौहबच्चा है और छोटी पाइप का पानी यहाँ आकर गिरता है। चौहबच्चे में एक पाइप और लगी हुई है जो पानी को दांए ओर के खेतों में ले जाती है। वहाँ भी एक चौहबच्चा है जिसमें पानी जमा होता है और फिर जमीन पर खोदी गई नालियों से होकर खेतों में जाता है। बड़ी पाइप भी आगे जाकर एक चौहबच्चे में पानी गिराती है। इस चौहबच्चे में गाँव के लोग नहाने और कपड़े धोने का काम भी करते हैं। यहाँ से जमीन पर खुदी एक छोटी-सी नहर जैसी नाली से होकर पानी दूर तक खेतों में जाता है। यह नहर एक पक्की सड़क (गुमला-पालकोट रोड) को भी पार करती है—सड़क के नीचे खुदाई करके बिछाई गई कंक्रीट की पाइप से सड़क के उस पार के खेतों में पानी पहुंचाया जाता है।

1972 में बाँध बाँधने से पहले यहाँ के लोग सिर्फ वर्षा के भरोसे खेती करते थे। टांड़ में महुआ, उरद और गोड़ा धान होता था। दूसरी कोई फसल नहीं थी, न कोई दोन खेत था। बाँध बनाने के बाद धान की खेती सभी लोग करने लगे। कुछ लोगों ने गेंहूं की खेती भी शुरू कर दी। गेंहूं कटने के बाद उसी खेत में टमाटर तथा कुछ सब्जियाँ भी उगाने लगे। बांध बनने के बाद जिस पैदावार में सबसे ज्यादा वृद्धि हुई वह है आलू। पहले सिर्फ वही लोग आलू उगाते थे जिनके पास कुँआ था। पहले गांव में छः लोगों के पास कुँए थे। बांध बनने के बाद सभी लोग आलू उगाने लगे। कुल मिलाकर इस बांध से एक सौ एकड़ जमीन की सिंचाई शुरू हुई।

इस सिंचाई योजना के निर्माण में कुल 24 हजार रुपए खर्च हुए। योजना की रूपरेखा खुद ग्रामीणों ने तैयार की और उसे हकीकत में बदलने के लिए फादर डिब्राउर की मदद ली गई। पम्प मशीन खरीदने के लिए बैंक से कर्जा लिया गया। क्योंकि ग्रामीणों ने अपनी

सहकारी समिति बना ली थी, इसलिए उन्हें बैंक का कर्जा आसानी से मिल गया। बांध बनाने के लिए कैथोलिक कृषि विकास संघ से 50% सहायता मिली। बैंक के कर्ज की अदायगी के लिए हर महीने 500 रु० चुकाने पड़ते हैं। इसके लिये गांव में सिंचाई से लाभ उठाने वाले हर घर से हर तीन महीने पर 15 रुपया लिया जाता है। सिंचाई की सुविधा के लिये ग्रामीण अपने कृषि संघ को टैक्स देते हैं। पहले मीटर के हिसाब से टैक्स लगता था। अब मीटर हटा दिया गया है। 1987-88 के साल में नवम्बर से अप्रैल तक के बीच गेंहू की सिंचाई के लिए ग्रामीणों ने कुल मिलाकर 220 रु० टैक्स के रूप में दिए।

2. राधारानीनगर बाँध

रांची शहर से कुछ मील दूरी पर, रांची-गुमला रोड पर बसा मदर तेरेसा का राधारानी लेप्रोसी रिहैबिलिटेशन सेंटर का छोटा बांध छोटानागपुर में प्राकृतिक जलस्रोत के स्थानीय उपयोग का एक दिलचस्प उदाहरण है। हलांकि यह बांध सिंचाई के उद्देश्य से नहीं बनाया गया है, पीने के पानी के लिए बना है और इससे सिंचाई गौण रूप से होती है, फिर भी छोटे बांध के महत्व को समझने के लिये इस पर ध्यान देना चाहिये। राधारानी सेन्टर हेहेल बस्ती के आगे एक ऊँचे पहाड़ी टीले पर बसा हुआ है। यहां कुष्ठ रोग के 276 रोगी रहते हैं जिनका इलाज चल रहा है। इनके अलावा 25 कर्मचारी हैं। इन तीन सौ व्यक्तियों के लिये पीने के साफ पानी का इंतजाम करना सेन्टर की एक मुख्य समस्या था क्योंकि यह स्थान शहर की जल आपूर्ति व्यवस्था के बाहर पड़ता है। इसके अलावा इतने सारे रोगियों के लिए नहाने और कपड़े धोने के लिये पानी की जरूरत थी; उनका खाना पकाने के लिये भी पानी की जरूरत थी। ऊँचे टीले पर स्थित होने के कारण इतने सारे कामों के लिए आवश्यक पानी हासिल करना यहां हमेशा एक समस्या रही। 1975 में यहाँ एक कुँआ खोदा गया और मोटर पम्प लगाकर पानी को ऊपर नल तक पहुंचाया गया। इसी कुँए से सभी मरीज और कर्मचारी पीने का पानी लेते थे; नहाने-धोने का काम करते थे। लेकिन गर्मी में कुँए का जल-स्तर बहुत नीचे चला जाता था और पानी की समस्या फिर खड़ी हो जाती थी। इस समस्या का हल बाँध बनाकर इस तरह हुआ।

टीले के नीचे एक बजरा नाला बहता है—करीब 20 फुट चौड़ा। तय किया गया कि इस नाले पर एक बाँध बांधा जाए। पहले आठ फुट ऊँची पक्की दीवार का बाँध बाँधा गया जिसे तीन साल बाद अढ़ाई फुट और ऊँचा कर दिया गया। इससे नाले का पानी बँध गया और वहाँ जलाशय बन गया। इससे दो लाभ हुए। टीले के नीचे जलाशय बन जाने से कुँए का जल-स्तर ऊँचा हो गया, यहाँ तक कि गर्मी में भी अब उसमें पानी रहने लगा। दूसरा लाभ यह हुआ कि मरीज और कर्मचारी अब नहाने और कपड़े धोने का काम जलाशय पर आकर करने लगे। बाँध की दीवार अढ़ाई फुट चौड़ी रखी गई और उसके एक किनारे पर चबूतरा बना दिया गया। इससे दीवार पर से आने-जाने और किनारे पर बैठकर नहाने-धोने की सुविधा हो गई। बांध के बीचोबीच तीन फुट चौड़ी जगह छोड़ दी गई। आमतौर पर इसे लकड़ी के मजबूत फट्टों से बन्द रखा जाता है पर आवश्यकतानुसार इसे खोलकर जलाशय की सफाई की जा सकती है। बरसाती पानी के वेग से बाँध के टूटने से बचाने के लिए इसे खोल दिया जाता है। अतिरिक्त जल बांध की दीवार के ऊपर से बहकर चला जाता है और इस तरह आगे भी नाले में पानी का थोड़ा-बहुत प्रवाह जारी रहता है।

नाला टीले के पिछले भाग के नीचे है। टीले का

पिछला भाग सीढ़ीनुमा है और यह अलग-अलग ऊँचाई वाले तीन टेबल-लैण्ड जैसा है। बाँध सबसे नीचे है। उसके ऊपर वाले तल पर कुँआ है। कुँए से 15 फुट की दूरी पर एक छोटा-सा तालाब भी बना दिया गया है जिसमें बरसात के पानी के अलावा जरूरत पड़ने से पाइप के जरिए नीचे के जलाशय से भी पानी खींचकर भर दिया जाता है। इसमें मछली पालन का काम चलता है। टीले के बाकी दो तलों पर क्यारियां बनाकर कद्दू, टमाटर, मूँगफली, आलू और मूलियाँ उपजाई जाती हैं। ये सारी क्यारियां करीब एक-डेढ़ एकड़ जमीन पर हैं। इनकी सिंचाई की व्यवस्था दिलचस्प है। बांध-बांधने के बाद नाले के प्रवाह में जो जल रहता है, उसका उपयोग इस सिंचाई के लिए किया जाता है। नाले से एक नाली खोदकर टीले के ठीक नीचे एक गढ़हे में पानी पहुंचाकर जमाकर लिया गया है। ऊपरवाले तल पर; जहाँ क्यारियाँ हैं, लकड़ी का लट्ठा लगाकर नीचे गढ़हे से पानी उठाकर ऊपरवाले तलतक पहुंचाया जाता है। इससे इस तल की क्यारियों की सिंचाई हो जाती है। फिर, इस तलपर भी एक गढ़हे में पानी जमाकर ऊपरवाले तल पर लट्ठा लगाकर पानी ऊपर खींचा जाता है जिससे ऊपरवाले तल की क्यारियों को सिंचाई होती है। इस तरह नाले पर छोटा बाँध बनाकर एक-डेढ़ एकड़ क्यारियों के साथ साथ तीन सौ व्यक्तियों के पीने के लिए साफ पानी का इन्तजाम-बिना किसी सरकारी मदद के—सफलतापूर्वक कर लिया गया।

3. खूँट टोली का आहर

गुमला जिले के सिमडेगा ब्लॉक में खूँट टोली लूथरन मिशन के और इससे सटे हुए हाता टोली के लोगों ने अपने खेतों की सिंचाई के लिए बहुत सुन्दर व्यवस्था कर रखी है। हाता टोली में करीब 25 परिवार रहते हैं। ये लोग मुंडा, उरांव और खड़िया हैं। सभी प्रोटेस्टैण्ड। इनके गाँव के पास से एक नाला गुजरता है लेकिन इन्होंने बाँध नाले पर नहीं बाँधा। यहाँ से आहर बनाए गए हैं, दोनों पांच-पांच एकड़ जमीन पर है। उन्हें आपस में पाइप से जोड़ा गया है ताकि एक बाँध का पानी दूसरे में जा सके। दोनों में नहाने, कपड़े धोने और मछली पकड़ने का काम भी होता है। आहर के किनारे-किनारे एक प्राकृतिक नाला बहता है जिसको मोड़कर नीचेवाले आहर के साथ-साथ किनारे से लाया गया है जो आगे जाकर एक नदी में मिल जाता है। निचले आहर के पानी को जरूरत पड़ने पर नाले में भरने के लिए पाइपें लगी हुई है। जरूरत पड़ने पर इन पाइपों का मुँह खोला और बन्द किया जा सकता है। ये पाइपें आहर की मेंड़ के नीचे से बिछाई गई हैं और करीब 15 फुट लम्बी है। (नाला आहर से इतनी ही दूर किनारे-किनारे बहता है) नाले के उस पार गांव के खेत हैं। खेतों की सिंचाई सीधे आहर से न होकर नाले के पानी से होती है। खेत नाले से कुछ उपर पड़ते हैं। जमीन पर गहरी नालियां खोदकर नाले के पानी को खेत के करीब लाकर छोटे गढ्ढों में जमा किया जाता है जहां लगे लट्ठे के सहारे पानी खींचकर खेतों में डाला जाता है। यह पानी खेतों में बनी नालियों से होते हुए एक खेत दूसरे और फिर तीसरे खेत तक पहुंच जाता है। नाले से गढ्ढे तक पानी लाने वाली नालियों गढ़हे के बाद घूमकर फिर वापस नाले से जोड़ दी गई है। इस तरह गढ्ढे में आवश्यक पानी जमा होने के बाद अतिरिक्त जल फिर आगे से वापस नाले में पहुंच जाता है।

निचले बांध के बिल्कुल उत्तर में बांध के लगभग 30 फुट नीचे एक और छोटा जलाशय बनाया गया है। इसमें बड़े आहर का पानी एक मोटी पाइप के जरिए आता है। बड़े आहर में लोहे का एक बड़ा गेट लगाया गया

है जिसे उठा देने से आहर का पानी पाइप से होकर नीचे के छोटे जलाशय में जमा हो जाता है। पाइप आहर की मेंड़ के नीचे से गई है। इस छोटे जलाशय का उद्देश्य बड़े आहर से पश्चिम में नीचे की ओर पड़नेवाले दूर-दूर तक के खेतों की सिंचाई करता है। इस जलाशय से खेतों तक पानी ले जाने के लिए फिर उसी तरह की नालियां हैं जिनसे होकर पानी के खेतों के पास बने, गढ्ढों में जमा होता है और वहां लगे लट्टों की मदद से खेतों की सिंचाई होती है। जिन जगहों पर खेत और जलाशय की ऊँचाई बराबर है, वहां पानी नालियों के जरिए सीधे खेत तक पहुंच जाता है। एक किसान कुछ दूरी पर और कुछ ऊँचाई पर पड़ने वाले अपने खेतों तक पानी पहुंचाने के लिए जलाशय पर मोटर पम्प भी लगाया है।

इस तरह खूँट टोली में नाले पर बांध न बांधकर आहर के पानी को प्राकृतिक नाले में लगातार या जरूरत के मुताबिक भेजते रहने की व्यवस्था है। यहां नाला नहर-जैसा काम करता है। सिंचाई सीधे आहर से न करके नाले से की जाती है क्योंकि वह खेतों के करीब से गुजरता है और नाला आहर से जुड़ा हुआ है।

इस प्रणाली से लूथरन मिशन की पांच एकड़ जमीन और हाता टोली के किसानों की 50 एकड़ जमीन की सिंचाई होती है। इस जमीन पर धान, गेंहूं, मकई, मूँग दाल और आलू के अलावा कई सब्जियाँ उगाई जाती हैं। आहर को नाले से जोड़ने का एक मकसद यह भी है कि बरसात के मौसम में, जब आहर पानी को और ज्यादा रोक नहीं सकता, तब आहर का सारा पानी पाइप के जरिए नाले में बहा दिया जाए ताकि पान के भार से आहर टूट न जाए।

खूंट टोली में ही एक और व्यवस्था का निर्माण किया गया है जिसका हमारे अध्ययन से कोई तालुक नहीं है लेकिन फिर भी उसका उल्लेख किया जा रहा है क्योंकि डर है कि यह व्यवस्था किसी दिन अतीत में खो जाएगी। यह व्यवस्था खेतों में पानी पहुंचाने की नहीं बल्कि खेत का अतिरिक्त पानी सोखने की है। पानी सोखने की इस व्यवस्था का निर्माण जर्मन विशेषज्ञों की मदद से 1965 में हुआ था। इस व्यवस्था का एक मुख्य भाग जमीन के अंदर काम करता है जिसका अध्ययन करना संभव न हो सका। इसके निर्माण में मुख्य भूमिका खूँट टोली लूथरन मिशन के फार्म मैनेजर प्रेमदास ने निभाई थी जो अब बुढ़ापे में हाई ब्लड प्रेशर के शिकार हो गये हैं। वे इस भूमिगत व्यवस्था के बारे में बतलाने के लिए अपने दिमाग पर ज्यादा जोर डालने में असमर्थ हो गए हैं। उनकी पत्नी के उदारता-पूर्ण सहयोग से इस व्यवस्था की जो जानकारी हमें मिल सकी है, वह इस तरह है। पानी सोखने की इस व्यवस्था की जरूरत इसलिए पड़ी क्योंकि दो आहरों के उत्तर में पड़ने वाले करीब 15 एकड़ धान के खेतों में पानी हमेशा जमा रहता था। पानी के इस जमाव से धान की खेती में सुविधा होती थी लेकिन गेंहूं या मकई की खेती दलदली जमीन में संभव नहीं। इसलिए पानी को हटाने या सोखने के लिए एक अद्भुत व्यवस्था का निर्माण किया गया। खेतों में जमीन के तीन फुट नीचे गहरी नालियाँ खोदकर उन पर बालू की परत बिछाकर उस पर खपरों को जोड़कर बनाई पाइप बिछा दी गई। जमीन के अंदर का पानी रिस-रिस कर इन पाइपों में जमा होता है। ऐसी कई पाइपें एक मुख्य बड़ी पाइप से जुड़ी हैं। मुख्य पाइप छोटे-छोटे कुँओं से जुड़ी हैं। पाइपों का पानी आकर इन कुँओं में जमा हो जाता है। ये कुँएँ खेतों के बीच-बीच में एक दूसरे से सौ-सौ गज की दूरी पर बने हैं। दो कुंए डेढ़-डेढ़ गज व्यास के हैं और तीसरा सिर्फ एक गज व्यास का। सभी कुंए 5-6 फुट गहरे है और आपस में जमीन के नीचे की मुख्य पाइप के जरिए जुड़े हैं। इन कुंओं को बनाने का उद्देश्य जमीन के अंदर की पाइपों के पानी को कुंए में पहुंचाना है। पाइप

के ही जरिये एक कुँए का पानी दूसरे में फिर तीसरे में पहुंचता है। आखिरी कुँआ सिंचाई के लिये बनाया गया है जो पास में बने आहर की मेंड़ के करीब है। इस आखिरी कुंए में जमा हुआ पानी पाइप के जरिये आहर में पहुंचा दिया जाता है। इस प्रणाली से 15 एकड़ खेतों में जमा हो जाने वाले फालतू पानी को निकाल कर आहर में पहुंचाया जाता है। धान की कटाई का समय आ जाने से कुंओं में जमा हो गए पानी को आहर में पहुंचाकर खेतों को सुखा लिया जाता है। धान कट जाने के बाद सूखे खेत में गेंहूं बोया जाता है या मकई। गर्मी के मौसम में पाइपों का मुँह बंद कर देने से खेतों में नमी फिर लौट आती है।

4. लसया का डेगा बाँध

छोटे बाँध की मदद से नये खेत तैयार करने और धानी की पैदावार बढ़ाने की एक शानदार मिसाल है लसया गाँव का डेगा बाँध। इस बाँध का एक विशेषता यह है कि पम्पू तर्री बहरा टोली की तरह यहाँ पर पानी को खेत में पहुंचाने के लिये बिजली के मोटर पम्प की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि बाँध ऊपर की जमीन पर है और खेत नीचे।

लसया गांव सिमडेगा सब-डिवीजन के सिमडेगा ब्लॉक में ही बना बीरा के कैथोलिक पारिश के नजदीक पड़ता है। इस गांव में करीब 100 घर हैं। इसमें 22 घर कैथोलिक डरांव हैं, 10 घर खड़िया लोगों के। बाकी भूइयां, गोंड और लोहार हैं। सदानों के पास अपने कुँए हैं सिंचाई के लिये। कुछ आदिवासियों के पास भी कुँए हैं पर ये कुंए गर्मी में बिल्कुल सूख जाते हैं और इनसे सिंचाई नहीं हो पाती। बांध बाँधने से पहले गांव में खेती की पैदावार बहुत कम थी। धान के खेत बिल्कुल नहीं थे। गांव के पास जंगल और ऊबड़-खाबड़ पथरीली जमीन थी जो बंजर पड़ी रहती थी। इसी जमीन को बांध बन जाने से हरे-भरे खेतों में बदल दिया गया। बांध बांधने की योजना गांव के कैथोलिक उरांवों ने बनाई। लसया नदी, जो असल में एक बड़ा नाला है, पर एक बांध बांधना तय किया गया। यह 1970-71 की बात है। बांध बांधने में रांची के कैथोलिक चर्च के एग्रीकल्चरल ट्रेनिंग सेन्टर (ए० टी० सी०) ने मदद दी।

लसया नदी लसया गांव से उत्तर दिशा में दस मील दूर स्थित एक पहाड़ी जगह छायापानी से निकलती है और लसया गांव से होती हुई दो मील नीचे जाकर गिरयां नदी में मिल जाती है। बांधवाली जगह से नीचे की ओर पड़ने वाले खेत अलग-अलग दिशाओं में दूर-दूर पड़ते हैं, इसलिये बांध से दो नहरे अलग-अलग निकालने के लिये नदी पर दो पक्की दीवारों का बांध खड़ा किया गया। दीवारें इस तरह खड़ी की गई हैं कि एक नहर दाहिने ओर पड़नेवाले खेतों की ओर जाती है, दूसरी नहर कुछ बांई ओर पड़नेवाले खेतों की ओर जाती है। एक दीवार ज्यादा लम्बी है, दूसरी कम। बड़ी दीवार के साथ छोटी दीवार 120 डिग्री का कोण बनाती हुई मिलती हैं।

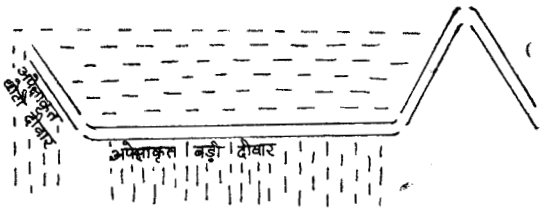

लसया नदी पर बना जलाशय

बड़ी दीवार की ऊँचाई पहले 9 फुट रखी गई थी जिसे एक साल बाद बढ़ाकर 10 फुट कर दिया गया। इसकी लम्बाई 68 कदम है। छोटी दीवार की ऊँचाई 8 फुट और लम्बाई 19 कदम है। पहले दीवार मिट्टी से बांधी गई थी। यह हर बरसात में टूट जाती थी। तीन-चार साल के बाद इसे टूटने से बचाने के लिए मिट्टी की जगह चट्टानी पत्थरों के टुकड़ों को सीमेण्ट से जोड़कर इसको पक्का कर दिया गया। बांध बाँधने से बाहर से

गांव में आने-जाने का एकमात्र रास्ता बन्द हो जाता था। इसलिए बाँध की दीवार तीन फुट चौड़ी रखी गई जिसके ऊपर से चलकर—साईकिल को साथ लेकर भी—आने-जाने की सुविधा हो गई। गर्मी के दिनों जलाशय का पानी 7 फुट गहरा रह जाता है। बरसात के दिनों में जलाशय लबालब भर जाता है और अतिरिक्त जल बाँध की दीवार के ऊपर से बहकर आगे नदी में चला जाता है।

लसया बाँध में पानी को छोड़ने के लिए पुग्गू-तर्री या राधारानी नगर की तरह दीवार के बीचोबीच कोई खाली जगह नहीं छोड़ी गई। इसके बजाय दीवार में ही तीन फुट नीचे पानी की निकासी के लिए जगह बनाकर एक पक्की नहर निकाल ली गई है। यह पक्की नहर 10 फुट आगे जाकर एक कंक्रीट की पाइप में पानी डाल देती है। 40 फुट के बाद पाइप का पानी फिर पक्की नहर के जरिए चल कर फिर आगे कच्ची नहर से खेत तक पहुंचता है। जब धान की फसल कटने के लिए तैयार हो जाती है, तब नहर का मुँह मिट्टी से बांधकर पानी को मोड़कर नीचे नाले की तरफ कर देते हैं।

बाँध का निर्माण गांव के उन परिवारों के सामूहिक प्रयासों से हुआ जिनके खेतों को बांध का पान मिलता है। पर सारा काम श्रमदान से नहीं हुआ। लम्बी दीवार का निर्माण में चार मिस्त्री लगाए गए जिन्हें प्रति माह ग्यारह सौ रुपए (चारों को) वेतन दिया गया। ये रुपए उन्हीं परिवारों से लेकर जमा किए गए जिनको आज बांध से पानी मिलता है। बांध के निर्माण में काम करनेवाले रेजा कुलियों को बनवीरा मिशन ने 40 मन गेंहू फूड फॉर वर्क कार्यक्रम के तहत दिया। प्रति कुली या रेजा $2\frac{1}{2}$ के०जी० गेंहू प्रतिदिन दिया गया। रेजा-कुली का काम उन्हीं परिवारों के सदस्यों ने किया जो बांध से लाभान्वित होने वाले थे। 40 मन गेंहू देने के अलावा मिशन ने सहायता के रूप में 165 बोरा सीमेन्ट दिया—बाजार में सीमेन्ट तब 28 रु० प्रति बोरा था। बांध में लगनेवाले पत्थरों को गांव के लोहारों ने पास की चट्टानों से काटा। लोहारों को प्रति सौ पत्थर काटने के लिए 12 रु० दिए गए। इस दो लोहारों ने मिलकर कुल 9 हजार पत्थर बांध के लिए काटे। बांध का जलाशय तीन एकड़ जमीन पर फैला है जिसमें एक रैयत की 5 डिसमिल जमीन डुबी है।

लसया बांध बनने से पहले इस गांव के आदिवासी धान की खेती बिल्कुल नहीं करते थे। छोटी दीवार से निकली दांई नहर का पानी आज जिन धान के खेतों में जाता है, वहां पहले सिर्फ गोंदली पैदा होती थी। बांध बांधने के बाद दांई नहर के इलाके में 10 एकड़ बंजर जमीन पर नए खेत बनाए गए जिनमें आज धान की खेती होती है। बांई ओर की बड़ी दीवार वाली नहर के इलाके में 25 एकड़ नए धान के खेत बनाए। इस तरह बांध बनने से कुल 35 एकड़ नए खेत सिर्फ धान के बने। इसके अलावा अब गेंहू और आलू की खेती भी होने लगी जो पहले यहां सोची भी नहीं जा सकती थी। सिंचाई व्यवस्था हो जाने के बाद अब धान की उपज प्रति एकड़ 24 मन होती है। गेंहू सिर्फ तीन एकड़ जमीन पर होता है। इससे ज्यादा बड़े क्षेत्र में गेंहू लगाना सम्भव नहीं क्योंकि मार्च महीने से बरसात आने तक बांध में पानी इतना कम रह जाता है कि वह नहर में नहीं आ पाता। बांध के बनने से उस पथरीले इलाके में भूमिगत जल का स्तर भी ऊँचा हो गया और जो कुँए पहले गर्मी में बिल्कुल सुख जाते थे, अब पूरे नहीं सूखते। लसया गांव का बांध एक अच्छा उदाहरण है कि छोटे-छोटे बांध बनाकर, बिना गांव और खेत को डुबाए, छोटानागपुर के पहाड़ी इलाकों में धान की खेती में विस्तार और उपज में वृद्धि, दोनों की जा सकती है।

5. परबद बाँध

हजारीबाग जिले के चूरचू थाने के मातहत चनारों गांव

के परबद टोले का बांध ग्रामीणों के सामूहिक प्रयास से सिंचाई का इंतजाम करने का एक और उदाहरण है जो हलांकि अभीतक पूरा नहीं हुआ है। परबद टोले में संथाल रहते हैं। कुल 34 घर हैं जिनमें से आधे कैथोलिक हैं। यहां दलहन में कुर्थी, अरहर, उड़द और मूंग, तिलहन में सरसों और सरगुंजा, अनाज में मकई, बाजरा और गोंदली तथा आलू, टमाटर, बैंगन, सीम; कुम्हडा, झींगी और परवल की सब्जियां उगाई जाती हैं। करीब 30 एकड़ जमीने दोन है जिसमें धान लगाया जाता है। बांध अभी बनकर तैयार नहीं हुआ है; अधूरा पडा है। पूरा हो जाने से 45 एकड़ धान के खेतों की सिंचाई हो सकेगी।

परबद बांध का निर्माण इसी टोले में रहनेवाले परिवारों ने मिलकर किया। बांध बनाने की योजना गांव के चार लड़कों ने, लूइस मांझी, बिरसा मांझी, खलाल मांझी और रेंगटा मांझी ने बनाई। इन्हीं के नेतृत्व में सारा निर्माण कार्य चला।

इस बांध की विशेषता यह है कि इसे किसी नदी या नाले पर नहीं बनाया गया। हलांकि गांव के नीचे एक नाला बहता है। बांध बनाने के लिए रांची की संस्था सोसायटी फॉर रूरल इंडस्ट्रीलाय्जेशन से मदद मांगी गई थी। इस संस्था ने गांववालों की पहलकदमी को उत्साहित करने के उद्देश्य से खुद उन्हीं को योजना की रूप रेखा बनाने के लिए कहा। गांव के लड़कों ने नाले पर बांध न बनाने का फैसला यह सोचकर किया कि नीचे नाले से पानी उठाकर ऊपर खेत तक ले जाने में कठिनाई होगी। असल में बांध बांधने के पीछे उनकी कल्पना को उकसाने वाली चीज एक दूसरी ही थी। गांव के ऊपर की ओर पहाड़ियां हैं। बरसात के मौसम में इन पहाड़ियों पर बरसने वाला पानी बहुत तेज रफ्तार के साथ नीचे की ओर बहता है। हर साल इस दृश्य को देखने-वाली आंखों ने इस बरसाती पानी को रोककर सिंचाई करने का सपना देखा। लड़कों ने गांव से काफी जगह पर, उन पहाड़ियों के तल पर एक बाँध बांधने का फैसला किया। तीन ओर से प्राकृतिक रूप से घिरा एक जलाशय बना या गया जिसके एक ओर—गांव की ओर—पानी रोकने के लिए मेंड़ खड़ी करके बांध बांधा गया। इस तरह पहाड़ियों से नीचे उतरने वाला जल वहां बँध गया। लेकिन किसानों के खेत इस बांध के ठीक नीचे न पड़कर बांध के बांई ओर की ढलान पर पड़ते थे। तय किया गया कि बांई ओर एक तालाब बनाया जाए और बांध का पानी किसी पाइप के जरिए बांध से तालाब में भेज दिया जाए। इस तालाब से नहर निकाल कर पानी खेतों में पहुंचाया जाए। तालाब की खुदाई शुरू हो गई। इस बांध से 20-25 फुट दूर बांई ओर खोदा गया। बांध के सिरे पर (तालाब की ओर) एक पक्की दीवार खड़ीकर उसमें 15 फुट की ऊँचाई पर एक कंक्रीट की पाइप लगाई गई जिसका एक मुँह बांध की ओर खुला हुआ रखा गया और दूसरा मुँह तालाब में जाकर मिलता है। जब बांध में 15 फुट से ज्यादा पानी जमा हो जाएगा तो पानी पाईप से होकर तालाब को भरेगा। बरसात के मौसम में पहाड़ियों से कितना पानी नीचे उतरता है, इसे अनुभवों से देखकर ही लड़कों ने समझा था कि बांध में औसतन 15 फुट से हमेशा ज्यादा पानी हर साल जमा हो जाएगा। तालाब से नहर निकाली गई है जो खेतों की ओर जाती है।

बांध को बांधने और तालाब को खोदने का काम खुद गांववालों ने किया। करीब 30-35 आदमी-औरत इस काम में लगे। उन्हें 10 फुट लम्बा×10 फुट चौड़ा × 10 फुट गहरा (1000 क्यूबिक फुट) खोदने के लिए 1 रु० 85 पैसा मजूरी मिलती थी। यह मजूरी बिहार

सरकार राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (एन० आर० ई० पी०) के अन्तर्गत उत्तरी छोटानागपुर के कमिशनर के० बी० सक्सेना ने उपलब्ध कराई थी। बांध के पानी को तालाब में लानेवाली पाइप को जिस पक्की दीवार के जरिए टिकाया गया है, उस दीवार को बनाने में 16 बोरा सीमेंट खर्च हुआ। पूरी योजना के निर्माण में 72 हजार रु० खर्च हुए। लेकिन इसी बीच कमिशनर के० बी० सक्सेना का तबादला दिल्ली में केन्द्रीय सरकार के संयोक्ति ग्रामीण विकास विभाग में हो गया तो नये आनेवाले अधिकारियों ने बांध की योजना में सहायता देना बन्द कर दिया। नतीजा यह हुआ कि तालाब की खुदाई पूरी न न हो सकी। इसलिए 80% काम पूरा हो चुकने के बावजूद योजना अधुरी रह गई और सिंचाई का काम शुरू नहीं हो सका।

मुख्य बांध एक एकड़ जमीन पर है। इसमें दो किसानों की कुल मिलाकर 25 डिसमिल जमीन डूबी है। 15 डिसमिल जो जमीन दनियल सोरेन की और 10 डिसमिल चरकू हाँसदा की जमीन डूबी, उसपर खेती नहीं होती थी, बंजर थी। फिर भी गांववालों ने आपस में चन्दा करके चरकू को एक हजार रुपया मुआवजा दिया जिससे चरकू संतुष्ट है। इसके लिए उन घरों से, जिन्हें सिंचाई से लाभ मिलेगा, 25 रु० प्रति घर चन्दा लिया गया। दनियल ने खुद ही मुआवजा नहीं लिया। बदले में उसे तालाब में मछली पकड़ने का अधिकार गांव की पचायत ने दिया। दनियल को इससे जो सन्तोष है, वह किसी भी सरकारी मुआवजे में नहीं देखा गया।

6. राँची ए० टी० सी० फार्म का बाँध

तकनीकी दृष्टि से रांची के ए० टी० सी० फार्म का छोटा बांध शैलो डैम का सबसे अच्छा उदाहरण है। यह बांध छोटानागपुर में कृषि और सिंचाई मामलों के एक विशेषज्ञ कैथोलिक मिशन के पादरी फादर डि-ब्राउर के निर्देशन में बना।

राँची शहर से कुछ दूर, रांची-टाटा रोड पर नामकुम बाजार के पास ए० टी० सी० का एक बड़ा फार्म है। ए० टी० सी० संस्था छोटानागपुर में किसानों को कृषि सम्बन्धी तकनीकी प्रशिक्षण देने का केन्द्र है। इसके फार्म में धान की खेती के अलावा सरसों और गेंहू भी उगाया जाता है। पूरा फार्म 95 एकड़ का है जिसमें 35 एकड़ पर धान, 15 एकड़ पर गेहूं और 12 एकड़ पर सरसों उगाई जाती हैं। 95 एकड़ जमीन को सींचने के लिए दो तालाबों के अलावा फार्म के नीचे की ओर बहनेवाले सपाही नाले पर एक छोटा बांध बांधा गया। सपाही नाला करीब 30 फुट चौड़ा है। इस पर बांध बांधने के लिए इसके प्रवाह के बीच 5 फुट ऊँची पक्की दीवार खड़ी की गई। 30 फुट लम्बी कंक्रीट की इस दीवार के बीचोबीच 6 फुट की जगह खाली छोड दी गई जिसे लकड़ी के फट्टों से बन्द करके रखा जाता है। बरसात के मौसम में फट्टे हटाकर पानी और जमा हो गई मिट्टी को बहा दिया जाता है। गर्मी के मौसम में जब पानी बहुत कम रह जाता है तो फट्टों को हटाकर बाँध में जमा हो गई मिट्टी को साफ कर दिया जाता है। नाले का अतिरिक्त जल दीवार के ऊपर से बहता रहता है और इस तरह नाले का प्रवाह बाँध के आगे भी जारी रहता है। बाँध की दीवार काफी चौड़ी रखी गई है ताकि ऊपर से आना-जाना हो सके। दीवार सीढ़ीनुमा बनाई गई है ताकि पानी आगे की ओर सीढ़ी-दर-सीढ़ी गिरे। अगर पानी ऊँचाई से सीधे नीचे गिरेगा तो इससे नीचे जमीन की मिट्टी कट जायगी। सीढ़ी-दर सीढ़ी पानी गिरने से पानी का वेग कम होता जाता है और मिट्टी का बहाव कम होता है। यह तकनीकी विशेषता पुग्गू-तर्री बहरा टोली के बाँध में नहीं दिखती।

बाँध बांधने से नाले पर जलाशय बन गया। इसके

नजदीक (फार्म की ओर) एक कुँआ बनाया गया जिसमें जलाशय का पानी भूमिगत रूप से आकर जमा होता रहता है (याद करें कि पुग्गू-तर्री बहरा टोली में जलाशय को कुँए से पाइप के जरिए जोड़ा गया है) कुँए की जगत इतनी ऊँची रखी गई है कि उसमें जलाशय का पानी ऊपर से आकर नहीं घुस सकता। कुँए का व्यास 15 फुट है। इससे 30 फुट की दूरी पर 7 फुट व्यास का एक और कुँआ बनाया गया। पहले कुँए का पानी एक जाली लगे लोहे की पाइप के जरिए छनकर इस दूसरे कुँए में पहुंचता है। इस कुँए के साथ एक 15 एच० पी० का मोटर पम्प है जो पानी को ऊपर खींचकर लोहे की पाइप से आगे खेतों में भेजता है। यह पाइप 200 मीटर तक लोहे की है। इसके बाद 300 मीटर तक कंक्रीट की पाइप है जिसका व्यास 10 इंच है। इसके भी आगे 150 मीटर तक प्लास्टिक की पाइप है। ये सभी पाइपें भूमि के अन्दर बिछाई गई हैं ताकि ऊपर से उन्हें कोई चोट न लग सके। खेतों में पहुंचने के बाद पाइपों में दो-दो सौ फुट के बाद ऊपर की ओर खुलनेवाले नल हैं जिनमें फव्वारे लगे हुए हैं। इन्हीं फव्वारों से पानी चारों ओर वेग से फूटते हुए खेतों को सींचता है। फव्वारे से सिंचाई (स्प्रिंग इरीगेशन) उस समय की जाती है जब धान के पौधों के अंकुर फूट रहे हों। इस समय खेतों में खाद से मिली हुई नरम मिट्टी बिछी होती है। अगर पानी का तेज बहाव खेतों में छोड़ दिया जाएगा (जैसा आम तौर पर हम गांवों में देखते हैं) तो वह बहाव मिट्टी और खाद को भी कुछ न कुछ अपने साथ बहाते हुए ले जायगा। फव्वारे नुमा सिंचाई से मिट्टी या खाद नहीं बहती। जब धान की फसल बड़ी हो जाती है तब पानी को खुले ढंग से खेतों में फैलने दिया जाता है।

ऊपर हमने बड़े बांधों के विकल्प के रूप में छोटानागपुर में छोटे बांधों द्वारा सिंचाई के छ वास्तविक उदाहरण दिए। इनमें से एक—राधारानी नगर - छोटे बांध का उदाहरण तो है, पर वहां इसका उपयोग सिंचाई के लिए न होकर पानी हासिल करने के लिए हैं। परवद बांध असल में उस छोटे बांध का ठीक उदाहरण नहीं है जिसे हम विकल्प के रूप में पेश कर रहे हैं। वह असल में इस शताब्दी के शुरू में पाए जाने वाले आहरों जैसा है। इस उदाहरण का महत्व इसकी सामूहिकता में है। खूँट टोली में भी वैसा बांध नहीं बांधा गया। यहां नाला अलग है, आहर अलग। फिर भी वह सिंचाई की स्थानीय प्रणाली का अच्छा उदाहरण है। लेकिन बाकी तीन बांध—पुग्गू तर्री बहराटोली, लसया और ए० टी० सी० रांची—बड़े बांधों का वास्तविक विकल्प पेश करते हैं। इनके साथ कुछ समस्याएँ भी जुड़ी हुई हैं जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

[अगले अंक में समाप्त]

कौन कहे झारखण्डी और कौन कहे आदिवासी ?

निर्मल सेनगुप्ता

असम में जो आंदोलन चला था उसमें कौन लोग शामिल थे ?

—असमिया लोग ।

गोरखालैण्ड की मांग किन लोगों ने उठाया था ?

—गोरखा लोग ।

झारखण्ड का संघर्ष कौन कर रहे हैं ?

—आदिवासी लोग ! जी हाँ, असमियाँ, गोरखा, बंगाली, बिहारी की तरह झारखण्डी नाम को कोई मान्यता नहीं है । उनका परिचय है—"आदिवासी" !

शायद आप कहेंगे कि इसमें गलत क्या है । हम तो "आदिवासी" हैं ही । जी नहीं, आप पर यह बिल्ला करीब एक सौ साल पहले लगा, जब से यह प्रांत बाहरी शोषण का शिकार हुआ । सच तो यह है कि यह छाप सिर्फ एक नाम नहीं है, बल्कि एक राजनीतिक चाल भी है । झारखण्ड पर शासन और शोषण की नींव इसी चाल पर कायम हुई है ।

यकीन नहीं होता होगा आप को । अंग्रेज लोग सिर्फ ताकत से दुनिया पर कब्जा नहीं कर पाते अगर वे साथ ही कूटनीति में भी दक्ष न रहे होते । उनकी एक कूटनीतिक चाल थी काले आदमी के दिमाग में यह बात घुसा देना कि "तुम दिमाग और क्षमता में कम हो, गोरे लोग तुमसे बहुत ज्यादा उच्च स्तर के मानव हैं ।"

अंग्रेज बुद्धिजीवियों ने एक सिद्धांत बनाया कि दुनिया में काले लोगों को ऊपर उठाना गोरे चमड़ेवालों की एक बड़ी जिम्मेदारी है (White man's burden) । जैसे-जैसे यह सिद्धांत स्थापित होता गया वैसे-वैसे गोरे लोगों का मनोबल बढ़ता गया और उपनिवेशवासी काले लोगों का आत्म विश्वास घटता गया । एक बार इस सिद्धान्त को अपना लेने के बाद लोगों का विचार पक्का हो गया । अच्छे अंग्रेज अफसर भी यह मानकर चलते थे कि जो कुछ अंग्रेज लोग चाहते हैं वही उपनिवेश के लोग करें तो उनकी भलाई होगी । कालेलोग देखते थे कि उनके साथ न्याय नहीं किया जाता है । फिर भी वे सोचते थे कि अंग्रेजों ने कुछ अच्छा सोचकर ही ऐसा किया होगा । हाँ, खुल्लमखुल्ला पिटाई, धोखाधड़ी और उत्पीड़न उनकी समझ में आता था, लेकिन गहरी चाल को समझना कठिन था । यह और भी मुश्किल हो जाता था जब ऊपर कहे सिद्धान्त को मानकर वे अपनी विचारशक्ति खो देते थे । क्या झारखण्ड में आज भी वैसा ही हो रहा है, या नहीं ? यह जो विकट शोषण चल रहा है वह किसी गहरी चाल में छिपा हुआ है कि नहीं ? क्या इसे बगैर उखाड़ फेंके झारखण्ड आगे बढ़ सकता है ? अंग्रेज राज को खतम करने के लिए क्रांतिकारियों की पहली लड़ाई भी इसी क्षेत्र में हुई थी । एक बार गोरे चमड़े का दिमागी भूत उतरते ही काले आदमी को रोकना असम्भव साबित हो गया ।

जी हाँ, झारखण्ड प्रान्त में भी महाजनों का शोषण, उद्योगों के चलते विस्थापन, अफसरों की घूसखोरी, पुलिस द्वारा बालात्कार आदि खुल्लम-खुल्ला चलनेवाले शोषण और अत्याचार को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती है। लेकिन शोषण का सबसे बड़ा हथकंडा है एक गहरी चाल, जिसका मूल सूत्र है "आदिवासी" याने "ट्राइब" का बिल्ला लगाना। यूरोप के लोगों ने सारे समाज को दो भागों में बाँट दिया—गोरे और काले। और कहा कि गोरे लोग दिमाग से अधिक तेज हैं; उनके तौर-तरीके सभ्य है; काले लोग सिर्फ आर्थिक रूप से ही नहीं बल्कि दिमाग और आचार-व्यवहार में भी पिछड़े हैं। शोषण को बनाये रखने का यह तर्क झारखण्ड पर भी हावी है। हाँ, यहाँ शोषक और शोषित के चमड़ों के रंग में फर्क नहीं है। यहाँ लोगों को बाँटा गया—ट्राइब और सभ्य लोगों में। लेकिन बाँटने का उद्देश्य एक ही था—एक को मूर्ख और असभ्य बताना था और दूसरे को सभ्य और दिमाग से तेज। अपने को जब आप "ट्राइबल" मान लेते हैं तब क्या आप अन्य भारतीयों की तरह सोचने की क्षमता वाले इन्सान हैं? क्या आपने कभी सोचा है कि "ट्राइब" की छाप लगाकर आपको सिर्फ नीचा दिखाने के लिए शिक्षा और नौकरियों में संरक्षण दिया जाता है? साथ ही इसी छाप के कारण आप को कभी कोई दायित्वपूर्ण और प्रतिष्ठित पद के लायक नहीं माना जाता। अगर रामदयालजी जैसे कोई कभी वाइस-चान्सलर बन भी गये तो सभी अफसर यही चिंता व्यक्त करते रहते हैं कि यह "आदिवासी" ठीक से काम चला पायेगा या नहीं। क्या आप यह देखते नहीं हैं कि ट्राइबल की जमीन को तो कानूनन सुरक्षा प्रदान की गयी लेकिन साथ ही यह भी माना जाता है कि आप जैसे ट्राइबललोग अपने प्रांत में प्राप्त संसाधनों का सही इस्तेमाल नहीं कर पायेंगे। हाँ, चुनाव में आपके लिए सीट आरक्षित रहेंगे। लेकिन पूरा एक राज्य चलाने की मांग आप करें तो उसे बचकाना कहा जायेगा। अंग्रेजों ने भी ऐसा ही किया था। ऊँचे पदों को छोड़कर बाकी नौकरियाँ भारतीयों को उपलब्ध थीं। भारतीयों को जमीन पर काश्त के अधिकार दिये गये थे लेकिन प्राकृतिक संसाधनों के इस्तेमाल की योजना लंदन में बनती थी! स्थानीय स्तर पर भारतीयों को शासन का भार दिया गया लेकिन ऊपर में अंग्रेजों का शासन बरकरार रहा। और यह तबतक इतमीनान से चलता रहा जबतक आम अंग्रेज समझते रहे कि काले लोग ऊँचे दायित्व के लायक नहीं हैं और भारतीय भी मानते थे कि वे हर काम में गोरों के समान योग्य नहीं हैं।

इस प्रकार गोरे-काले, ट्राइब-सभ्य जैसे विभाजनों द्वारा शोषण को सहारा मिला। यह भी समझना चाहिए कि इस सिद्धांत को कैसे स्थापित किया गया। गोरे लोगों ने कैसे मान लिया कि वे कालों से अधिक काबिल हैं? और काले लोगों को अपना आत्म-विश्वास खो देने के लिए कैसे तैयार किया गया? यह तो एक अजीब बात है कि बिना जबरदस्ती किये लोगों को जहर पिलाया गया। लेकिन वह अजीब नहीं होगा अगर उसे विश्वास दिलाया जाये कि यह जहर नहीं, अमृत है।

कहा गया कि यह विज्ञान है—अधुनिक युग का अमृत। लेकिन काले-गोरों से सम्बन्धित उस तथाकथित विज्ञान की बात का भंडाफोड़ हो चुका है। लेकिन ट्राइब और सभ्य लोगों में विभाजन की बात पर विज्ञान का बिल्ला लगाकर आज भी इसका प्रचार किया जा रहा है।

विज्ञान और प्रचार

हिन्दी में झारखण्डी लोगों को "आदिवासी" कहा जाता है और अंग्रेजी में "ट्राइब"। सरकारी कागजात में "शेडयूल्ड ट्राइब"। ट्राइब का मतलब है 'कबीला" और

"शेड्यूल्ड ट्राइब" उन कबीलों को कहा जाता है जिनको सरकार ने "शेड्यूल" याने "अनुसूची" में शामिल कर लिया। "आदिवासी" का मतलब वे लोग हैं जो किसी जगह पर सबसे पहले बसे हों। इन तीन शब्दों का एक अर्थ कैसे हो सकता है ?

लेकिन हमारे देश में इन तीनों का एक ही अर्थ माना गया है, और ऐसा किया गया झूठे विज्ञान के जरिये।

इस प्रकार की शुरूआत करीब २०० वर्ष पहले हुई थी, जब यूरोप में लोग अंधविश्वासों को छोड़कर विज्ञान की ओर झुकने लगे थे और साथ ही सारी दुनिया में उपनिवेश कायम करने लगे थे। विभिन्न धार्मिक आस्थाओं से सम्बन्धित कथाओं में फर्क है। फिर भी सभी मानते थे कि भगवान ने ही मनुष्य को बनाया। डार्विन (1731-1802) नामक एक वैज्ञानिक ने इस अंधविश्वास को खत्म किया और बताया कि मनुष्य जाति का उद्भव प्राणीजगत के विकास की शृंखला की एक कड़ी है और वह सबसे अधिक विकसित प्राणी है।

यहां तक तो विचार और विज्ञान सही थे। अब इसमें कुछ समाजवैज्ञानिक घूस गये। वे बताने लगे कि मनुष्यों में भी कुछ जगह के लोग अधिक विकसित हुए और कुछ जगह के लोग कम। ये समाजवैज्ञानिक यूरोप के उपनिवेशकारों के पिठ्ठू थे। उन्होंने कहा कि गोरे लोग अधिक विकसित मनुष्य हैं और काले, पीले आदि लोग कम विकसित अनुन्नत प्राणी हैं। इस सिद्धांत को नस्लवाद (racism) कहा जाता है। race शब्द के लिए भारतीय भाषाओं में कोई हू-ब-हू शब्द नहीं है, क्योंकि 'विज्ञान के युग का यह विचार' पहले था ही नहीं, सो शब्द भी नहीं था।

इसी झूठे वैज्ञानिक सिद्धांत के द्वारा यूरोप के लोगों को यह विश्वास पिलाया गया था कि काले लोगों को ऊपर उठाना गोरे लोगों का मानवीय दायित्व है और इसी के द्वारा काले लोगों को अपना आत्म-विश्वास खोने के लिए मजबूर किया गया। यही सिद्धांत आगे बढ़कर नाजी-वाद का रूप ले लिया और हिटलरशाही का आधार बन गया। तब दुनिया के लोगों ने समझा कि यह कैसा विष वृक्ष है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ (यू०एन० ओ०) ने नस्लवादी सिद्धांत पर विचार करके इस बात को दिखाया कि यह सचमुच कितनी अवैज्ञानिक बात है।

गोरों और कालों में बँटवारा तो नस्लवाद के सिद्धांत का एक सूत्र है। इसी प्रकार और भी कई विभाजन किये गये हैं। नाजीवाद के नस्लवादी सिद्धांत के आधार पर ही लोगों को आर्यों एवं अनार्यों में बाँटा गया था। भारत में इसी नस्ल-विभाजन का प्रयोग किया गया। मैक्समूलर ने बताया कि पुरानी यूरोपीय भाषाओं और संस्कृत में बहुत मेल है, जो साबित करता है कि हजारों वर्ष पहले एक ही कबीला दो भागों में बँटकर यूरोप और भारत की ओर कूच किया। उसी कबीले को उन्होंने आर्य कहा। भारत के लोग बहुत खुश हुए कि वे दूसरे उपनिवेशों के लोगों से उन्नत लोग हैं और उनका खून और यूरोपीय राजाओं का खून एक ही है। तो फिर अनार्य कहाँ गये ? भारत में काले चमड़े वालों को अनार्य कहा गया, जो निश्चय ही चार हजार वर्ष पहले बाहर से आये आर्यों से हार गये थे। अब चार हजार साल पहले जो लोग हारे थे उनके वंशज कौन हैं क्या इसे कभी प्रमाणित किया जा सकता है ? लेकिन प्रमाण की परवाह कौन करता है ? आज भी इतिहासकार लिखते हैं कि झारखण्डियों जैसे लोगों के पूर्वज ही आर्यों से हारे थे। इसी तरह "आदिवासी" का परिचय बना— भारत में पहले बसे लोग।

लेकिन "ट्राइब" का बिल्ला लगा बिलकुल एक दूसरे कारण से। जब देश में जनगणना शुरू हुई तब हिन्दुओं के

बारे में लिखा जाता था कि कौन किस जाति का है। अब संथाल या मुण्डा तो जाति नहीं है, उनको क्या लिखा जाये! उनको "ट्राइब" नाम दिया गया। यह भी भारतीय चिंतन से अलग था। अनेक संथाल जातिवाद मानते नहीं हैं लेकिन अपने को हिन्दू कहते हैं! लेकिन अंग्रेज सरकार ने जातिवाद नहीं मानने वाले हिन्दुओं को हिन्दू कहने से इनकार कर दिया। कहा, वे "ट्राइब" हैं। खैर, इस बात को छोड़ दीजिए। हम देखते हैं कि "ट्राइब" और "अनार्य," "आदिवासी" बिल्ले दो भिन्न तरीकों से आये। उनका अर्थ एक नहीं होना चाहिए था। नस्लवादी सिद्धांत के न अपनाये जाने से ये दोनों परिभाषाएँ ऐतिहासिक रूप से गलत रह जातीं और उनकी धार्मिक व्याख्या भी गलत कही जातीं। लेकिन यही है मूल राजनीति। आदिवासियों को "अनार्य" के वंशज कहने के साथ-साथ पिछड़ा भी कहा गया। जो जातिवाद नहीं मानता है उसे न सिर्फ "ट्राइब" कहा गया, बल्कि यह भी मतलब लगाया गया कि वह निचले स्तर का मनुष्य है। नस्लवादी सिद्धांत के जरिये अनार्य का इतिहास और ट्राइब के रूप में परिचय, दोनों में मेल बैठ गया।

अन्त में जब "शेड्यूल्ड ट्राइब" की सूची बनी तब सिर्फ वैसे कुछ कबीलों को उसमें शामिल किया गया जिनको पिछड़ा माना जाता है तथा यह माना जाता है कि उनको ऊपर उठाने के लिये दूसरों की मदद की जरूरत है। अब वैज्ञानिकों ने विपरीत दिशा में शोध करना शुरू कर दिया। इतिहासकार यह नहीं देखते कि "अनार्य" के वंशज कौन हो सकते हैं, बल्कि उनका काम हुआ "शेड्यूल्ड ट्राइबों" को अनार्य के वंशज साबित करना। इसमें काले द्रविड़ लोग छूट गये—सिर्फ "शेड्यूल्ड ट्राइबों" ही हुए आदिवासी। समाज-वैज्ञानिक दिखाते रहे कि वे असभ्य हैं, इसीलिए वे हिन्दू नहीं हो पाये। नृविज्ञानी इस बात को साबित करने में व्यस्त रहे कि "शेड्यूल्ड ट्राइब" लोगों का दिमाग कम है, उनका आचार-व्यवहार असभ्य है, आदि, आदि। अतः "दिकु" सरकार जो कुछ कहे वही ठीक है—इन्हें ऊपर उठाना उनका मानवीय दायित्व है, क्यों? भला चमड़ा पूरा गोरा न होने पर भी कुछ तो गोरा जरूर है। फिर वह क्यों न कहे यूरोप के लोगों की तरह कि काले आदमी को ऊपर उठाना उनका मानवीय दायित्व है? □

क हा नी

और कितने दिन

रंजीत राजीव

रेंगो ददा (बड़ा भाई) रिक्शा खींचता हुआ आंगन में आता दिखा। दोपहर का एक बजा होगा। ददा के भोजन का यही समय होता था। हिलि (भाभी) बर्तन धोना छोड़-कर उठ खड़ी हुई।

"सालगी मजदूरी पर नहीं गयी।" रेंगो ददा रिक्शा को नीम की छांव छोड़कर बीच आंगन में खड़ा हो गया। दृष्टि सालगी पर से हटकर पुन: हिलि पर टिक गयी।

"जाती कैसे! महारानी जो हैं। देख रहे हो न, किस आराम से पड़ी है खाट पर। मजदूरी पर नहीं गयी, घर के काम तो थे, कहते-कहते मुँह दुख गया। हार मान गयी हूं। अब तुम जानो और तुम्हारी बहन। मैं तो आज ही बाप के वहाँ चली जाउँगी। मुझसे और नहीं सहा जायेगा। बच्चे को लेकर मजदूरी करती हूं, पड़ोस के घर में ही सही, बच्चे के कारण कितनी तकलीफ होती है मालूम, उपर से ये महारानी, अब मैं एक पल भी नहीं रूकूँगी।" हिलि ने मन की भड़ास निकाल दी।

रेंगो ददा गरज उठा—'सालगी! क्या सुन रहा हूँ मैं?'

सालगी ने खाट पर से ही थोड़ा-सा सिर उठाकर ददा को देखा। "तबियत खराब है ददा। तुम्हें तो मालूम है।"

"तबीयत खराब है इसका यह मतलब तो नहीं—हिलि की भी तो जान है!"

"अब कुछ भी करने को मन नहीं कर रहा ददा। सुबह से घर के सब काम करती रही, अब हिम्मत टूट गयी है।"

"उस काम को तुमने किये हो तो क्या मैं सो रही थी? मजदूरी पर जाने से पहले ही सब काम निबटा कर घर से निकली हूं। बारह बजे लौटी, थकी-मांदी, फिर भी घर के काम निबटा रही हूँ। जरा भी नहीं सोचा कि हिलि की मदद करूँ।" हिलि भिभक उठी।

हिलि की बातों से हृदय आहत हो उठा—'क्या मैं झूठ बोल रही हूँ? यहाँ तक कि मुझसे धान भी कुटवा लिये तुमने और क्या बाकी रह गया था?"

"सीमा के भीतर रहो सालगी।" रेंगो ददा की आवाज कानों को भेद गयी।

लेकिन वह दबी नहीं। बोली—सच कहती हूं ददा। कुछ भी कह लो, अब मुझसे कोई काम न होगा। वह धीरे से उठकर बैठ गयी।

"सालगी!" रेंगो ददा खुद से बाहर हो गया था। आवाज फट गयी थी—"बहुत लम्बी जबान हो गयी है तेरी। दो दिन बुखार का बहाना करके घर में पड़ी रही, हम कुछ नहीं बोले। आज भी मजदूरी पर नहीं गयी, जबकि सुबह चेता कर गया था। मजदूरी करेगी नहीं तो

पैसे कौन देगा तुम्हें और खाएगी क्या ? अब तेरी हेकड़ाई मुझसे नही देखी जाती। दिन भर रिक्शा खींच-खींचकर बेदम रहता हूं और तुम हो कि····· यहाँ रहना है तो हमारी सुननी होगी, नहीं तो अपनी माँ को लेकर यहाँ से चली जाओ।"

"अपना घर छोड़कर कहाँ जाऊँगी ददा ?"

"जहाँ भी जाओ, कुछ भी करो····· ।"

"ददा !" वह चीख पड़ी—"इतना जुल्म अब नहीं सहा जाता।" उसके तन-बदन में आग लग गयी थी। वह उद्विग्न हो उठी।

"बकवास बंद करो, किसने जुल्म किया है तुम पर ? जबान चलाना खूब आ गया है, जबान नोंच लूँगा।" ददा एकदम नजदीक आ गया था। मुठ्ठियाँ भींच गयी थीं।

"आज चुप नहीं रहा जाएगा ददा। सच कहती हूं, जहर दे दो, माँ-बेटी दोनों खाकर चुपचाप सो रहेंगे. उफ तक नहीं निकलेगी।" उसकी दृष्टि तो ददा की आँखों को देख रही थी, लेकिन वे आँखें तो राकोस (राक्षस) की थी—लाल तप्त आँखें, शराब और क्रोध में डूबी हुई।

"हरामजादी ! पाण्डु काका (चाचा) के यहाँ जा-जा बातें करना भी सीख गयी है।" पलक झपकते ही ददा उसकी तरफ लपक गया। झोंटा उसकी मुट्ठी में आ गया था। वह जमीन पर आ गयी थी। चार-पांच तमाचे गालों पर तड़ातड़ पड़ गये। पूरा शरीर झनझना उठा था। साथ ही पीठ पर जोरदार लात भी पड़ी। वह उसी पल धरती पर घिसट गयी। पीठ पर कई घूँसे दनादन पड़ गये····· वह भीतर तक कपस कर रह गयी। ददा की फटी-फटी आवाज पूरे हातु (गांव) को हिलि दे रही थी—"बहुत देख लिया तुम माँ-बेटी को हमसे मुँह लगाती है। आज कोई कुछ कहो तो ले, सिर न अलग कर दूँ उसका तो मेरा नाम रेंगो नहीं। उस हरामी पाण्डु काका को भी देख लूँगा, बड़ा धर्मात्मा बनता है, गाँव का सुधार करेगा, मसटोर (शिक्षक) है तो क्या उससे डरता हूं·····तुम भी कान खोलकर सुन लो, आज से दोनों मां-बेटी का खाना-पीना बन्द। कपड़ा-लत्ता हण्डी बर्तन सब अलग कर दो, खुद कमाए—खाए। सप्ताह अड़तालिस रुपये देती है तो समझती है कि उसी से माँ-बेटी का खर्च पूरा हो जाता है, इन दोनों के पीछे मेरा कुछ भी खर्च नहीं होता ! तुम खड़ी-खड़ी क्या देख रही हो, इनके सब सामान बाहर फेंक दो।"

ददा हिलि को आदेश देकर भीतर चला गया। भीतर से बच्चे के रोने की आवाज आ रही थी। हिलि उसके पीछे हो ली।

वह धीरे से उठकर बैठ गयी। मुँह से खून निकल आया था, हाथ छिल गये थे। अंतर में द्वन्द छिड़ गया था। संकल्प-विकल्प का द्वन्द·····और यहाँ पल भर भी न रहने का विचार पक्का होने लगा। उसकी नम आँखें माँ को घूरने लगी, जो बरामदे की बैलिनमा हो चुकी खाट पर चित धँसी लम्बी-लम्बी सांसें ले रही थी। माँ की निस्तेज आँखें उसी पर टिकी हुई थीं। कोरों से आँसू झर रहे थे। लकवाग्रस्त और बीमार माँ कर भी क्या सकती थी।

उसने आर्द्र आँखे पोंछ डाली। अगल-बगल देखा। दो-तीन औरतें व कुछ बच्चे खड़े उसे ही घूर रहे थे, जैसे कोई अद्भुत चीज देखने को मिल गयी हो। सिर को हल्का-सा झटक कर वह अपने कमरे में चली गयी और अपने सब कपड़े समेटने लगी····· ।

कुछ दिनों पहले जब हिलि से झगड़ कर दीदी के यहाँ चली गयी थी तब की बात याद आयी—दीदी के यहाँ से लौटने पर इसी तरह रेंगो ददा ने मार-मार अधमरा कर दिया था कि वह मां को छोड़कर क्यों चली गयी थी

और हिलि से क्यों झगड़ गयी थी। अड़ोस-पड़ोस के लोग न आए होते तो शायद मर ही गयी होती।

वह सोचने लगी, माँ की वजह से सब झेल रही है। वह न होती तो सोमा के साथ बहुत पहले भाग गयी होती। माँ की ममता ने उसे बांध लिया था। लेकिन अब यहाँ नहीं रहेगी। माँ को भी ले जाएगी। दो पेट के लिये कहीं न कहीं से इन्तजाम हो ही जाएगा। मजदूरी करती है, किस बात की चिन्ता। जाम्बी के यहाँ सर छुपाने की जगह मिल ही जायेगी। दूर के मामा की लड़की है तो क्या हुआ, अपना जैसा तो मानती है। माँ को चैन की सांस मिल जाएगी।

यह तो साफ है कि माँ के बारे में कोई कुछ नहीं सोचता। अपना दूध पिला-पिला कर बड़ा किया था सबको। उस दूध के बारे में थोड़ा भी किसी ने नहीं सोचा। न किरसोन ददा, न दाई (दीदी) ही। रेंगो ददा तो जानवर से भी बदतर हो गया है। बाप के मरने पर किरसोन ददा यहाँ कि स्थिति देख गया था। आश्वासन भी दिया था कि माँ के लिए कुछ रुपए जरूर भेजा करेगा। पर सात महीने गुजर गये, उसका कोई पता नहीं। टाटा में कहीं मजदूरी करता है। पड़ोस के पाण्डु काका कहता था—"उसे शहर की हवा लग गयी है। अब यहाँ की क्या सोचेगा ?"

वह भी कितनी मुरूक (मूर्ख) है। किन से उम्मीद लगाये बैठी थी ! छुटपन से कभी किसी को किसी से लगाव रहा था, जो अब रहेगा ! सब अपना कमाते-खाते रहे। हातु के सम्पन्न घरों में दासी रह-रह कर बड़े हुए। सयाने होने पर रेंगो ददा और किरसोन ददा ने डोंगोल (शहर) की अपना रास्ता कर लिया। उन्हें किसी से कोई मतलब न था।

दाई (दीदी) को इस घर के लिये जितना करना था, उसने किया। अब उसका अपना घर है; पति है, सास-शसुर है, बच्चे हैं। उसने मर-मर कर इस घर को सम्भाला था। माँ-बाप को घर की कतई चिन्ता न थी। जड़ी-बूटियां बेचते थे। रुपये जुटते ही डियङ (चावल की शराब) और आरकी (महुआ की शराब) में डूब जाते थे। बेटी तो है, पेट की चिन्ता करने वाली। उम्र भर यही होता रहा था। जो थोड़े बहुत खेत थे, वे भी ठेका बँधक में बीस-पच्चीस वर्षों के लिए निकल गए। गाय-बैल भी न रहे। रेंगो ददा और किरसोन ददा को घर से कोई मतलब न था। वे शहर में ही रहते और कमाते-खाते थे।

दाई मजदूरी करती थी और प्रत्येक सप्ताह हाट से डियङ भी बेचती थी। गुजारा हो जाता था। जाम्बी के साथ उसका अधिक मेल-जोल था। कभी-कभी मजदूरी से दूसरे दिन शाम को हतु आती थी। रातभर कहाँ रही, किसके साथ रही, मां-बाप ने कभी नहीं पूछा। उन्हें डियङ-आरकी से मतलब था। दाई इसका प्रबन्ध कर देती थी। मुर्गा भी चलता था। बस, दोनों खुश। हतु वाले दाई के चरित्र पर लांछन भी लगाते थे कि वह मर्दों के साथ .....

एक दिन दाई का हाथ थामने वाला मिल गया। विधुर, दो बच्चों का बाप। दाई उसके साथ चली गयी। घर का सारा बोझ अब उसके नाबालिग कंधों पर आ गया था। जिसे ढोती हुयी सयानी हुई। हतु की युवतियों के साथ डोंगोल में गार-पत्थर ढोने की मजदूरी करती थी, तब बाप की तबीयत खराब थी। खांसते-खांसते खून निकल आता था। माँ भी अस्वस्थ रहने लगी थी। हाथ-पांव में झिनझिनी होती और जोड़ों में दर्द रहता था। एकबार लम्बे समय तक बीमार पड़ गयी, तो फिर खाट से न उठ सकी। हाथ-

पांव बेकार हो गये थे। मालिश तेल बेअसर साबित हुए। बाप की जड़ी-बूटियां भी काम न आयीं। देवां (ओझा) से अरवा चावल और सिंदूर दिखलाया था। उसने बताया कि हतु के किनारे वाले आम के पेड़ का दुष्ट प्रेतात्मा उसके पीछे पड़ गया है। हतु में बहुतों की जान उसने ली है। उसे सन्तुष्ट किये बिना कुछ भी कर पाना मुश्किल है। पूजा-उजा के नाम पर कई मुर्गा-मुर्गी बलि चढ़ी। फिर भी कोई लाभ न हुआ। देवां ने फिर बताया कि प्रेतात्मा एक भेंड़ा और एक बकरी की बलि चाहती है। पैसों के अभाव में इसका इन्तजाम न हो सका। लोग कहते थे किसी माने हुए बड़े गुनी देवां को लाना होगा, तभी ठीक होगी। रुपये-पैसे होते तब तो यह सब करती।

कुछ दिनों बाद रेंगो ददा अचानक आ धमका। सब दंग रह गये थे। सूर्य पश्चिम से कैसे निकल आया! पिछले पांच-छह साल से उसका कोई पता न था। उसे बहुत खुशी हुई थी कि घर सम्हालने वाला आ गया। उसे लगा था, दुःख के काले बादल छँट गये। साथ में हिलि भी थी। उसकी गोद में एक महिना का बच्चा भी था। ददा ने बताया कि इतने दिनों वह चाकुलिया में था, कहीं कुलीगिरी करता था। यहाँ अपना घर है, कबतक इधर-इधर रहे, चोंये-बासा (चाईबासा) तीन-चार मील दूरी पर तो है, वहीं मजदूरी कर लूँगा।

कुछ दिनों तक सब ठीक-ठाक चलता रहा। हिलि हर सप्ताह चोंयबासा हाट में डियङ बेचती थी। हिलि उसे भी साथ कर लेती। वह सोमा के अलावा किसी के साथ उतना खुलती नहीं थी, जिससे व्यवसाय में व्यवधान पड़ता था। सोमा के साथ ही बहुत देर तक तिलि-तिपिल (डियङ का आदान-प्रदान) होता था। हिलि चाहती थी कि अन्य युवकों के साथ भी वह इसी तरह से पेश आए, ताकि डियङ की बिक्री अधिकाधिक हो सके। मर्द युवतियों के हाथ का पीना ज्यादा पसन्द करते हैं। हिलि इस मंत्र से पूरी तरह वाकिफ थी। पर वह हिलि के मनोनुकूल नहीं कर पाती थी। फलतः हिलि उस पर बिगड़ जाती थी। घर आकर भला-बुरा कहती थी। ददा को उल्टा-सीधा पढ़ा-सिखा देती थी। उसने ददा के सामने स्पष्ट किया था कि सोमा के साथ बहुत दिनों से अपसरा (प्रेम) सम्बन्ध बना है। और सोमा यह नहीं चाहता कि वह अन्य युवकों के साथ आत्मीयता से पेश आए, चुहलबाजी करे। बस, हिलि और ददा का व्यवहार ही बदल गया। डियङ की बिक्री जितनी होनी चाहिये उतनी नहीं हो पाती थी। लेकिन जितनी भी बेचती थी, उसका श्रेय उसी को जाना चाहिये, पर हिलि इसे अपने ऊपर ले लेती थी। रेंगो ददा और हिलि के व्यवहार में कड़वाहट आ गयी थी। मां-बाप भी उनके दुर्व्यवहार से क्षुब्ध थे। देखते-देखते बाप चल बसा। न दवा, न दारू।

यदि माँ भली-चंगी होती तो बाप के मरने के बाद ही जाम्बी के घर चली गयी होती। डोंगोल के उरांवसाई में घर है। जाम्बी के साथ उसके बच्चे और मां हैं। जाम्बी अब भी साथ रहने को प्रेरित करती है·····।

·····कपड़ों की गठरी तैयार हो चुकी थी। वह गठरी लेकर बाहर निकल आयी। मां की हतप्रभ आंखें उसी को घूर रही थीं।

माँ के समीप आते ही कुछ क्षण उनके यन्त्रणाव्यथित चेहरे को एकटक देखती रही, जैसे वर्षों बाद देख रही हो। चिपके हुए गाल, उभरी हुई हड्डियां, कटरों में बसी आँखें, ऊपर की ओर चलती साँस—देखते-देखते आँखें भर आयी थीं। हृदय की भावनाएँ उसे उसका कर्त्तव्य ही करने दे, यह सोच कर थर्राया स्वर फूट पड़ा—"घबराना

नहीं माँ। आऊँगी तुम्हें लेने; कल ही। कुछ न कुछ इन्तजाम जरूर हो जाएगा। और फिर जाम्बी तो है ही।"

हिलि को भीतर वाले कमरे से निकलते देखा तो वह तुरन्त कच्ची सड़क की ओर बढ़ गयी। मां की दबी-टूटी आवाज कानों से टकराई—"न जा सालगी ·····।"

पास खेल रहे बच्चों के शोर-गुल में मां की यह आवाज दबकर रह गयी।

हिचकोले खाती बैलगाड़ी आगे डोंगोल की ओर बढ़ रही थी और वह मन ही मन तय कर रही थी कि सबसे पहले सोमा से भेंट हो जाए तो उसी से रहने-खाने का प्रबन्ध करने को कहेगी। उसके विचार जान लेगी। यदि सोमा ने चाहा तो किसी किराये के घर में उसके साथ रह जायेगी, पति-पत्नी की तरह। सोमा डोंगोल में ही किसी सरकारी दफ्तर में चपरासी है। प्रबन्ध कर ही लेगा। पर उससे भेंट होगी कहाँ? दफ्तर देखा होता तो वहीं चली जाती। मागे पोरोब के बाद सिर्फ एक बार मिली थी, डियङ गोदाम में·····लेकिन उस दिन सोमा लगभग गंभीर और खामोश था। कारण पूछना चाह कर पूछ नहीं पायी थी। वह जल्दी में अपनी और उसकी डियङ का पैसे गोदाम वाली को थमा कर चला गया था। उसने इतना ही कहा था—"ओपिस देर हो रही है।"

उस दिन सोमा की खामोशी उसे बुरी तरह साल गयी थी। जाने-अनजाने हुई गलतियों को भीतर ही भीतर टटोलने लगी थी। यह नाराजगी किस बात की थी। इससे पहले तो ऐसा कभी नहीं हुआ····उसे मागे पोरोब की बात याद आ गयी। तीन सप्ताह पहले की तो बात थी। मानस-पटल पर उस दिन की सारी घटनाएँ उभरकर सामने आ रही थीं····।

····"कितनी उमंग, कितना उत्साह का दिन था मागे पोरोब। बहुत सारे दुखों के बावजूद वह आनन्द विभोर थी। सोमा के साथ खूब नाची-गायी थी। डियङ का दौर खूब चला था। सोमा अपने हतु का नहीं था। फिर भी वह लोगों में ऐसा घुल-मिल गया था, जैसे उसका अपना हतु हो।

नाचते-गाते एकाएक सोमा ने उसे एरा (पत्नी) बनाने की जिद पकड़ ली थी। उसे अपने साथ अपने हतु चलने को विवश करने लगा था। उसे कोई एतराज न था। पर माँ का ध्यान आते ही वह सहमत न हो सकी थी। उसने सोमा को समझाया था कि मां को ऐसी स्थिति में असहाय छोड़ देना क्या मनुष्यता है? लोग क्या कहेंगे? उसकी देख-भाल करने यहाँ कौन है? माँ को खाना-वाना वही अपने हाथ से खिलाती है। वह चली जायेगी तो माँ का क्या होगा? कौन देखेगा उसे?

"सालगी, मारांग पुल (बड़ा पुल) आ गया। पुल के आगे उतरना है न।"

उसने चौंक कर गाड़ीवान को देखा। डोंगोल आ गया था—चोंयबासा डोंगोल। कोलतार की सड़क के साथ-साथ दृष्टि भी डोंगोल के भीतर चली गयी। गाड़ियों, साइकिलों तथा लोगों का आना-जाना निरन्तर जारी था। सड़क के दोनों किनारे नये पुराने छोटे-बड़े मकान खड़े थे। कुछ छतवाले कुछ खपरैल और कुछेक झोपड़ियाँ थी। पुल के नीचे रोंड़ो नदी बह रही थी। इसी सड़क से प्रतिदिन मजदूरी पर आती थी। पर आज····।

पुल पार करने के बाद बैलगाड़ी सड़क के किनारे बांयीं ओर रूक गयी। उसने धीरे से उतर कर पीछे की ओर दूर तक देखा। अच्छा हुआ बैलगाड़ी मिल गयी, नहीं तो बीमार हालत में इतनी दूर पैदल चल पाती

क्या ? उरांवसाई पास ही है। इस समय वहीं के एक डियङ गोदाम में सोमा अक्सर डियङ पीने आता है। उससे अधिकतर मुलाकातें वहीं होती थीं। उसके कदम उस ओर बढ़ गये।

डियङ गोदाम में प्रवेश करते ही उसकी दृष्टि सोमा को तलाशने लगी, पर सोमा का कोई पता न था। दो-तीन व्यक्ति डियङ पी रहे थे। वह चुपचाप ठगी-सी खड़ी रही। अब तो कहीं चलने का मन ही नहीं कर रहा उसे। लग रहा था, कहीं गठरी बनी बैठी रहे या निढ़ाल पसर कर कहीं सो रहे। सारा बदन टूट रहा था।

"..... अरे सालगी ! डियङ पीने आयी है ?"

वह चौंककर पीछे दरवाजे की तरफ मुड़ गयी। सामने जाम्बी कमर पर एक हंडी टिकाए खड़ी मुस्कुरा रही थी। बायीं बांह हण्डी के गले पर मुड़े हुए थे और दाएँ हाथ के अंगूठे से बायीं हथेलीपर सुकुल (खैनी) मल रही थी।

"नहीं तो, वैसे ही..... ।" उसने जबरन मुस्कुराने के प्रयत्न में होठों को थोड़ा फैला दिए।

"वो समझी, सोमा को ढूंढ़ रही होगी, है न ?" जाम्बी चुहलबाजी की।

"हां, कहीं देखा है उसे ?" उसकी आँखें आशा की झलक पा कर चमक उठीं।

"कौन ? सालगी ! आवो-आवो बैठो।" डियङ गोदाम वाली औरत भीतर के कमरे से निकलते ही उनके पास आ गयी—"डियङ पियोगी या रसी (डियङ के पूर्व का रूप अर्थात् मोटा मेरा से गार कर निकाला गया रस)".....बहुत दिन में आयी। तेरा चेहरा कैसा उतरा हुआ है ! मां कैसी है ?.....

"वैसी ही है, हतोम (मामी)। सोमा आया था ?" गोदाम वाली औरत की ओर उन्मुख होकर पलकें झुका ली।

"तुम्हें पता नहीं क्या ? उसने एक हपनुम (युवती) से राजी-खुशी आंदी (विवाह) कर लिया है। कल ही तो दोनों यहाँ डियङ पीने आए थे। हपनुम लोके हतु का है, बानरा किलि (गोत्र) की।"

वह स्तब्ध रह गयी। जैसे खींच कर जोरदार तमाचा जड़ दिया गया हो। सिर में चक्कर आने लगा। ऐसा लगा, जैसे शरीर की बची-खुची सारी शक्ति निचोड़ ली गयी हो। कपड़ों की गठरी हाथ से छूट गयी। सिर पर हाथ रखकर धीरे से बैठ गयी।

"क्या हुआ सालगी ? तबीयत तो ठीक है ?" जाम्बी कमर से लगी हांडी नीचे रखकर उसकी ओर लपक गयी। हाथ पकड़ कर देखा—"तुम्हें तो तेज बुखार है, हतु लौटोगी कैसे ?" जाम्बी की विस्मित दृष्टि उसी पर टिकी हुई थी।

कुछ क्षण वह जाम्बी को देखते रही, फिर गहरी निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"अब वहाँ क्या करूँगी दाई ? उसे तो छोड़ आयी। सोमा से बहुत सारी उम्मीदें थीं, अब वह भी.....। अपने साथ रखोगी मुझे ? मजदूरी करूँगी, डियङ बेचूँगी, पर माँ को....." उसकी आवाज धरा गयी थी।

".....ददा ने घर से निकाल दिया क्या ? चिन्ता क्यों करती है, मैं हूं न। मैं तो पहले कई बार कह चुकी हूं कि मेरे साथ रहो, डियङ बेचो, सब ठीक हो जायगा। तुमने ध्यान ही कहाँ दिया। खैर, माँ को भी ले आना। डोंगोल के बड़े डाकडर (डाक्टर) को दिखलाएँगे। किसी अच्छे देवां से बोंगा (पूजा) भी करवा देंगे, वह ठीक हो जाएगी।"

वह यही तो चाह रही थी—"हां, मां को तो साथ ही रखना चाहती हूं, कल ही ले आऊँगी।"

"बस-बस, माँ को ले आने का भार मेरा। चिन्ता न करो। सब ठीक हो जायेगा। रही सोमा की बात, तो उसे भूल जाओ। उससे भी अच्छे मेपेड (युवक) मिल जायेंगे तुम्हें, जिससे तुम्हारा जी चाहे रह जाना, तुम्हारी दीदी ने भी तो यही किया था। मेरे ही कारण उसकी जिन्दगी बनी, वरना···· खैर, अभी तेरी उमर ही क्या हुई है।" जाम्बी ने तसल्ली दी और उसके चेहरे से उसकी मनोदशा को पढ़ने का प्रयत्न करते हुए चुटकी भर सुकुल उसकी हथेली पर डालकर शेष अपने मुँह में दबा लिया। फिर कहा—"मैं माया (डियङ से पूर्व का रूप—मोटा मेरा) ले लेती हूं, तुम यहीं ठहरो।" जाम्बी हण्डी हाथ से लटकाए भीतर के कमरे में चली गयी।

कुछ क्षणों बाद दोनों सड़क पर थीं। अभी पांच-छह कदम ही बढ़े थे कि एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति ने जाम्बी के सामने मोपेड रोक दी—"अरे जाम्बी! इ कौन है?"

"मेरी बहन है।" जाम्बी ने सिर की हंडी को दोनों हाथों से सहारा देते हुए हल्की सी मुस्कान बिखेर दी। उसके कदम भी जाम्बी के साथ रुक गये।

"कभी देखा नहीं?"

"हाँ, गाँव में रहती थी, अब मेरे साथ रहेगी।" जाम्बी उसकी ओर एक दृष्टि फेर कर उस व्यक्ति को ताकने लगा।

"क्या नाम है तेरा?" वह व्यक्ति सालगी के जवान बदन को ऊपर से नीचे तक टटोलने लगा।

वह इसे भी झेल रही थी। चुप!

"अरे! कुछ बोलती नहीं, गुँगी हो क्या?"

"नहीं, बहुत दुकु (दुख) में है बेचारी। वैसे अभी नयी है। धीरे-धीरे खुल जायगी।" जाम्बी उस व्यक्ति की नशीली आँखों में और नशा डाल रही थी, परन्तु सालगी के भय से बच-बच कर।

"तुम ऐसी ही हपनुम को ढूंढ़ रही थी न डियङ बेचने को, पहले क्यों नहीं बुला लिया था, अबतक तो खूब मालामाल हो जाती तुम। अच्छा छोड़ो, शाम को आऊँगा, एकदम बढ़िया रसी रख देना, तेजवाली। बहुत दिन से साड़ी के लिए कह रही थी न, आज ला दूँगा, बढ़िया साड़ी, इसके लिए भी एक ले आऊँगा। अच्छा, चलता हूं।"

वह व्यक्ति चला गया।

दोनों के कदम बढ़ रहे थे। जाम्बी उस व्यक्ति का परिचय दे रही थी—"दिकु (गैर-आदिवासी) है, ठीकेदार। हो जगर (भाषा) अच्छा बोल लेता है। पहले जब मजदूरी करती थी, तब से जान-पहचान हो गयी थी। मुझ पर बहुत रुपये खर्च करता है। अब तुम रहोगी तो देखना कितना डियङ बिकेगी, बहुत रुपये कमायेंगे हम दोनों। तुम से तो पहले कहा, मेरे साथ रहो—किसी चीज की कोई तकलीफ नहीं होगी। कल मां को ईसी ठीकेदार की ट्रक से ले आएँगे। तुमने अच्छा किया जो यहां चली आयी।"

उसे अहसास होने लगा था कि जाम्बी मन ही मन प्रसन्न है कि सालगी जैसी सतरह साल की बेबस, असहाय डिंडा हपनुम (कुँवारी युवती) डियङ बेचने को मिल गयी, जिसकी उसे जरूरत थी। जाम्बी का चरित्र अब खुल रहा था। उसने ठीक ही सुना था—जाम्बी का चाल-चलन अच्छी नहीं है। पाण्डु काका की बात याद आ गयी। उसने एकबार कहा था—"जाम्बी बिखर गयी है। सीमा का उल्लंघन उसे कहीं का नहीं छोड़ा।"

मां कहती थी कि जाम्बी वैसी नहीं है। डियड बेचने वाली हर औरत तो बदनाम होती है। क्या सब की चाल-चलन वैसी है? जाम्बी पति द्वारा त्यागी गयी है, लोग बदनाम तो करेंगे ही।

अच्छा हुआ जाम्बी की असलियत सामने आ गयी। उसके चंगुल में जाने के पहले सुराग मिल गया। पाण्डु काका तो उससे बातचीत करने तक की मना ही करता था, परन्तु पारिवारिक रिश्ते और मां की वजह से अब तक उससे जुड़ी हुई थी। मां बराबर कहती थी, "जाम्बी के साथ रहो, दुख के समय वही काम आएगी। बहुत मदद करती है बेचारी।"

अब क्या होगा? कहाँ जाएगी वह? रेंगो दादा और हिलि के बीच रहकर न मां जी सकेगी, न वही खुद। जाम्बी के साथ उसका गुजारा नहीं हो सकता। मां की उसे ज्यादा फिक्र है। वह ठीक हो जाए, बस। रह-रह कर मां की याद विचलित कर रही थी। मां के लिए क्या जाम्बी के साथ रहना·····।

अभी वह माँ के लिए ही कुछ निर्णय ले रही थी कि अचानक उसके सामने एक साइकिल रुक गयी। विचारों का तारतम्य टूट गया। चौंककर देखा। सामने अपने हतु का एक लेपेड (युवक) खड़ा था। उसके चेहरे पर उदासी छायी हुई थी। उसने कहा—"तम एंगम् बंगइ यनाए सालगी। पाण्डु मास्टोर गोनोए लिजाअ किरिंग डोंगोल कुल तडियंग। तुगीयना अमेइंग् बेटा केउमेया। पुल ताव् रे टाई अतना में, रुअ तन रे साईकोल रेडंग लादी इडमेया (तेरी माँ गुजर गयी सालगी। पाण्डु मास्टर कफन खरीदने शहर भेज दिया। अच्छा हुआ तुम मिल गयी, पुल के पास रहना, लौटते समय साईकिल पर ही लेता जाऊंगा)।

साईकिल वाला लेपेड आँखों से दूर होता चला गया। वह स्तब्ध उसे देखती रही।

चुनाव का मुद्दा

बीर भारत तलवार

झारखण्ड आंदोलन में नए तेवर लेकर उभरे संगठन आजसू (ऑल झारखण्ड स्टुडेन्टस यूनियन) ने चुनाव के बहिष्कार का नारा दिया ' झारखण्ड नहीं तो चुनाव नहीं" जबकि पुराने झारखण्डी राजनीतिक दल चुनाव लड़ना चाहते हैं। कुछ समय के लिए यह विवाद दुर्भाग्यपूर्ण लग सकता है, पर लंबे समय की दृष्टि से, झारखण्डआंदोलन के भविष्य की दृष्टि से, यह दुर्भाग्यपूर्ण न होगा। अच्छी बात है कि यह मुद्दा सामने आया। झारखण्ड आंदोलन के बहुत-सारे मुद्दे ऐसे हैं जिन पर अभी तक खुलकर वाद विवाद नहीं हुआ। झारखण्ड आंदोलन में वैचारिक स्पष्टता की हमेशा कमी रही है। चाहे सिद्धांत और विचारधारा का मामला हो, चाहे संगठन और आंदोलन का स्वरूप हो, चाहे समाज में आर्थिक-सांस्कृतिक परिवर्तन लाने के कार्यक्रम हो—हर मामले में अस्पष्टता है। इससे संबंधित मुद्दों को जरूर उठाना चाहिए, उन पर वाद-विवाद होना चाहिए। अभी सिर्फ चुनाव का मुद्दा उठा है, आगे और भी मुद्दे उठेंगे और उठने चाहिए। लेकिन वाद-विवाद में दृष्टिकोण व्यक्तिगत विरोध या कटुता का, हिंसा या एक-दूसरे के खिलाफ झूठे प्रचार का नहीं होना चाहिए। अपने-अपने पक्ष को जनता के सामने रखना चाहिए और दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि झारखण्ड आंदोलन का विकास आगे कैसे होगा—इसकी जरूरतें क्या-क्या हैं—इसे ठीक से समझ लिया जाए।

आजसू द्वारा झारखण्ड आंदोलन के सिलसिले में चुनाव बहिष्कार का प्रस्ताव लाना स्वाभाविक था। इसका कारण झारखण्ड आंदोलन का अब तक का इतिहास है। बिहार राज्य की विधानसभा के लिए चुनाव लड़कर झारखण्ड राज्य नहीं बनाया जा सकता। यह बात 1952 में, पहले चुनाव में ही साफ हो गई थी जब जयपाल सिंह की झारखण्ड पार्टी के 32 उम्मीदवार चुनाव जीत गए और झारखण्ड पार्टी बिहार विधानसभा में सबसे बड़ी विरोधी पार्टी बनकर पहुंची। इससे ज्यादा बड़ी चुनावी सफलता और क्या हो सकती है ? अगर चुनाव जीतने से झारखण्ड राज्य बन सकता है तो वह 1952 में बन जाना चाहिए था। लेकिन बात उल्टे साबित हुई। जिन नेताओं को चुनाव जीतने का शौक था, एम० एल० ए० बनने के बाद उन्हें मन्त्री बनने का शौक हुआ। कम से कम उनके सबसे बड़े नेता को तो हुआ ही। लिहाजा बिहार की सबसे बड़ी विरोधी पार्टी—झारखण्ड पार्टी—पूरी की पूरी 1961 में कांग्रेस के अंदर समा गई। इससे झारखण्ड आंदोलन का वह प्रभाव भी खत्म हो गया जो 1950 के आंदोलन से पैदा हुआ था। जयपाल सिंह मन्त्री बन गए, पर झारखण्ड राज्य नहीं बन सका। चुनाव की राजनीति से झारखण्ड आंदोलन की उन्नति नहीं हुई, नेता की उन्नति हुई। आज यह बात फिर

भुला दी जा रही है कि चुनाव में किसी एम० पी० या एम० एल० ए० के हारने या जीतने से कोई आंदोलन सफल नहीं होता, न जनता की दुर्दशा बदलती है। जनता की दुर्दशा बदलती है अपनी समस्याओं पर शक्तिशाली आंदोलन चलाने से, जन-संघर्ष में जीतने से। न पंजाब और हरियाणा राज्यों की स्थापना चुनाव के बल पर हुई, न नागालैंड और मिजोराम चुनाव जीतकर बने। गोरखालैंड के स्वायत्त शासन की स्थापना चुनाव के बल पर नहीं हुई। भारत में कोई भी राज्य—बिहार, आंध्र प्रदेश या महाराष्ट्र—चुनाव के बल पर नहीं बना। ये सभी राज्य जन-आंदोलन के बल पर बने। इन राज्यों के लिए लड़ने वाले संगठनों ने कभी भी चुनाव लड़ने को अपने आंदोलन का अंग नहीं बनाया।

मौजूदा राजनीतिक प्रणाली—चुनाव जिसका अंग है, खुद भ्रष्टाचार का अखाड़ा बन चुकी है। अक्सर यह बात कही जाती है कि चुनाव लोकतंत्र का सबसे बड़ा हथियार है। लेकिन इस बात की असलियत क्या है, यह भी हम जानते हैं। संप्रदाय के नाम पर, धर्म के नाम पर, चर्च के नाम पर, जाति के नाम पर चुनाव लड़े जाते हैं। सेठों-पूंजीपतियों से मिले पैसों, गुंडागर्दी और प्रशासन-तंत्र के बल पर, धांधली के बल पर, फर्जी वोटों के बल पर और लोगों को मतदान करने से जबरन रोकने के बल पर चुनाव जीते जाते हैं। आज झारखण्ड में शराब का सबसे बड़ा ठीकेदार चुनाव जीत जाता है। दिन-रात शराब, पैसे और औरत में डूबे रहने वाला अपने अधनंगे शरीर पर हरा कपड़ा लपेटकर रखने वाला भ्रष्ट झारखण्डी नेता भी चुनाव जीत जाता है। लोकतंत्र के सबसे बड़े हथियार की यह असलियत है कि नहीं ?

चुनाव लोकतंत्र का सबसे बड़ा हथियार है, आज यह बात सही नहीं है। उसे सबसे बड़ा हथियार बनाने की जरूरत है, बनाया जा सकता है। लेकिन इसके लिए संघर्ष करना पड़ेगा, जन-आंदोलन करना पड़ेगा, यहां तक कि चुनाव का बहिष्कार भी करना पड़ सकता है।

यह सही है कि चुनाव के बहिष्कार का नारा सिर्फ आजसू ने दिया था, झारखण्ड के ज्यादातर राजनीतिक दल, जो समन्वय समिति के घटक हैं और कुछ नहीं भी, चुनाव लड़ने के पक्ष में रहे हैं। लेकिन इस बात से कोई मतलब नहीं निकलता। चुनाव लड़ना पेशेवर राजनीतिज्ञों का स्वार्थ बन गया है। बहुमत हमेशा सही नहीं होता। असल चीज है सिद्धांत। अगर सिद्धांत सही है तो आज जो अल्पमत में है, वह कल बहुमत में बदल सकता है। कम्युनिस्ट पार्टियों को छोड़कर भारत की सभी राजनीतिक पार्टियाँ चुनाव में जीतने के लिए संप्रदाय या जाति की भावनाओं का इस्तेमाल करती है। इससे साम्प्रदायिकता और जातिवाद सही साबित नहीं हो जाते। झारखण्ड में जो पार्टियाँ आज चुनाव लड़ने का समर्थन कर रही हैं, वे पहले से चुनाव लड़ती आ रही हैं। झारखण्ड के नाम पर चुनाव लड़ने के सिवा उन्होंने और किया ही क्या है ? जयपाल सिंह की झारखण्ड पार्टी ने चुनाव लड़ा और जीता। शीबू सोरेन के मुक्ति मोर्चे ने चुनाव लड़ा और जीता। होरो साहब की पार्टी ने भी चुनाव लड़ा और जीता। इससे झारखण्ड राज्य बनने का दिन नजदीक आता हुआ नहीं दिखा। लेकिन जब जयपाल सिंह ने 1950-51 में, शीबू सोरेन ने 1972-74 में और एन. ई. होरो ने 1977-78 में झारखण्ड राज्य के लिए आंदोलन चलाया, तब लोगों को झारखण्ड राज्य बनने के दिन नजदीक आते दिखे थे। पिछले तीन सालों से झारखण्ड आंदोलन हवा में गूंज रहा है तो इसका कारण कोई चुनावी सफलता नहीं, बल्कि आजसू का आंदोलन है, आजसू की पहलकदमी पर बनी समन्वय समिति का आंदोलन है।

झारखण्ड में चुनाव पेशेवर राजनीतिक नेताओं के जीवन का केन्द्र बन गया है। यहाँ जब भी कोई व्यक्ति झारखण्ड

आंदोलन छोड़ता है तो वह नेता बन जाता है। इसके बाद वह चुनाव लड़कर एम० एल० ए० या एम० पी० बन जाता है और आंदोलन करना छोड़ देता है या उतना ही आंदोलन करता है जितना फिर से चुनाव जीतने के लिए जरूरी होता है। ऐसे पेशेवर नेता सोचते हैं, झारखण्ड राज्य बनने के बाद भी हमें एम. एल. ए. बनना है। वह हम बिना झारखण्ड बने ही बन गए हैं। तो फिर, झारखण्ड बनाने के लिए लगातार लड़ते रहने की क्या जरूरत ? ऐसे नेताओं के विचारों के केंद्र में झारखण्ड की जनता की समस्याएं नहीं होती, उन समस्याओं को हल करने की बेचैनी नहीं होती। वे बेचैनी का सिर्फ दिखावा करते हैं।

लेकिन, चुनाव बहिष्कार के मुद्दे पर हम एक दूसरी बात कहना चाहते हैं। वह यह कि चुनाव लड़ने या न लड़ने का झारखण्ड आंदोलन के साथ कोई खास संबंध नहीं है। आज की परिस्थितियों में, जब झारखण्ड आन्दोलन कमजोर हालत में है, झारखण्ड समन्वय समिति में अगर सभी घटक इस मुद्दे पर एकमत नहीं हैं, तो कोई प्रस्ताव पास नहीं करना चाहिए। इस मुद्दे को फिलहाल समन्वय समिति के बाहर रखना चाहिए। जैसे चुनाव लड़ने से झारखण्ड राज्य बनने वाला नहीं, उसी तरह चुनाव बहिष्कार करने से भी झारखण्ड बनने वाला नहीं। हां, चुनाव बहिष्कार का कार्यक्रम भी झारखण्ड आंदोलन का एक अंग बन सकता है, बशर्ते सभी संगठन मिलकर इसे आंदोलन का अंग बनाएं। अगर आज इस मुद्दे पर ज्यादातर या बड़े संगठन तैयार नहीं हैं तो इस मामले में जबर्दस्ती या जल्दबाजी करने की जरूरत नहीं। इस मुद्दे पर वैचारिक संघर्ष चलते रहना चाहिए, वाद-विवाद चलते रहना चाहिए और सही वक्त का इन्तजार करना चाहिए। ज्यादा से ज्यादा जनता को इस मुद्दे पर राजनीतिक रूप से शिक्षित करना चाहिए।

लेकिन, समझने की बात यह है कि चुनाव का बहिष्कार करना काफी नहीं है। चुनाव का बहिष्कार भी एक आंदोलन जरूर है, लेकिन नकारात्मक आंदोलन है, वैसे ही जैसे 1978 में कोल्हान-पोड़ाहाट (सिंहभूम जिले में) का जंगल आंदोलन एक नकारात्मक आंदोलन था जिसमें जंगल पर अपने परंपरागत अधिकारों के दावे को साबित करने के लिए जंगल काट डाले गए थे। सिर्फ चुनाव बहिष्कार से जनता की आर्थिक हालत पर कोई सीधा असर नहीं पड़ता, न झारखण्ड की राजनीतिक मांग पर सीधा असर पड़ता है। सवाल यह है कि चुनाव न लड़कर किया क्या जाए ? उत्तर होगा—चुनाव न लड़कर जन-संघर्ष किया जाए। यह जन-संघर्ष ही मुख्य चीज है जिसके लिए कार्यक्रम लेना चाहिए। आजसू को तथा समन्वय समिति को चाहिए कि वे विभिन्न मुद्दों पर संघर्ष चलाकर आंदोलन को पहले फैलाएं और स्थानीय जन-संगठनों को मजबूत करें। ठेकेदारों के अधीन और निजी खदानों तथा जंगलों में काम करनेवाले मजदूरों (जिनमें ज्यादातर झारखण्डी मजदूर हैं) की समस्याओं पर और गांव के गरीब किसानों की समस्याओं पर—उनकी उपज का वाजिब दाम हासिल करने तथा जमीन से जुड़ी समस्याओं पर—आंदोलन चलाए। पर्यावरण के सवाल (माइनिंग फैक्टरियों तथा थर्मल पॉवर के घातक धुंए तथा नदियों के प्रदूषण) पर, नागरिक सुविधाओं (पानी, बिजली, स्वच्छ शौचालय और हरिजन बस्तियों की जरूरतों) तथा शिक्षा के सवाल पर, जंगल की कटाई रोकने के सवाल पर, बांधों से होनेवाले विस्थापितों के सवाल पर, महिलाओं के हकों के सवाल पर और विकास के नाम पर विनाश कर रही सरकारी योजनाओं के सवाल पर (अपनी ओर से वैकल्पिक योजनाओं को पेश करते हुए) आंदोलन चलाए। इन आंदोलनों से जनता संगठित होगी और इनकी सफलता से गरीब जनता की हालत कुछ सुधरेगी। सबसे बड़ी बात यह है कि इन आंदोलनों को चलाकर वे यह साफ कर सकेंगे कि वे क्यों झारखण्ड अलग राज्य बनाना चाहते हैं; कि वे झारखण्ड की समस्याओं का कैसा हल चाहते हैं। इससे यह भी साफ होगा कि वे भ्रष्ट पूंजीवादी राजनीति के तर्ज पर भारत में सिर्फ एक और राज्य-भर बनाना नहीं चाहते। □

विशेष निबन्ध

छोटानागपुर में गाँवों की व्यवस्था

प्रभु महापात्र

☐ यह निबंध प्रभु महापात्र की पी० एच० डी० की 'थिसिस आस्पेक्ट्स ऑफ एग्रेरियन इकॉनमी ऑफ छोटानागपुर 1880-1950' (सेंटर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली) के एक अंश का हिन्दी रूप है ।

छोटानागपुर में या यों कहिए कि झारखण्ड में गाँवों की व्यवस्था— भूमि सम्बन्धी एवं अन्य अधिकारों सम्बन्धी प्रशासनिक व्यवस्था—का अध्ययन व्यवस्थित रूप से अभी तक नहीं हुआ था, हलांकि इस विषय का झारखण्ड की स्वायत्तता की मांग से गहरा सम्बन्ध है । स्वायत्तता सिर्फ राज्य स्तर की ही नहीं होती, गांव के स्तर की भी होती है । अपने सही विकास के लिए स्वायत्तता सिर्फ झारखण्ड राज्य—राज्य सरकार—को ही नहीं चाहिए, जिले और गांवों की साधारण जन-परिषदों—पंचायतों—को भी चाहिए । यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि झारखण्ड राज्य की स्वायत्तता के लिए आंदोलन करनेवाले संगठनों ने राज्य के विभिन्न स्तरों पर—जिले और गांव पंचायतों के स्तर पर—स्वायत्तता के अधिकारों को कैसे कायम किया जाएगा, इस बारे में अभीतक कोई रूपरेखा या कार्यक्रम तय नहीं किया है । ऐसी रूपरेखा या कार्यक्रम के बिना सच्चा जनतंत्र कैसे कायम हो सकता है ?

झारखण्ड आन्दोलन को फैलने से रोकने के लिए भूतपूर्व प्रधान मंत्री राजीव गाँधी के सलाहकारों ने कुछ इलाकों में मुण्डा-मानकी प्रथा को फिर से लागू करने का उपाय सुझाया है । यह माँग कोल्हान इलाके में उठती रही है । केन्द्र सरकार का ख्याल है कि इससे आदिवासी स्थानीय नेताओं को संतुष्ट किया जा सकता है । लेकिन समझने की बात यह है कि आज मुण्डा-मानकी प्रथा का जो रूप प्रचलित है, अथवा सरकार उसे जिस रूप में लागू करना चाहती है, वह असली मुण्डा-मानकी प्रथा नहीं है बल्कि उसका विकृत रूप है जिसको सामन्ती जमींदारों-राजाओं से मिलकर अंग्रेजी राज ने जन्म दिया था । इसी विकृत रूप को सरकार और भी विकृत करके इसे लागू करना चाहेगी ताकि मुण्डा-मानकी आदिवासियों के अपने सच्चे प्रतिनिधि न बनकर गांव-स्तर पर सरकार के दलाल—एजेण्ट—बन जाएँ । अंगरेजी राज में भी ठीक यही कोशिश की गई थी ।

प्रभु महापात्र ने पुराने सरकारी दस्तावेजों की गहरी छानबीन करके अपने अध्ययन में बतलाया है कि आदिवासी गांवों की व्यवस्था में मुण्डा-मानकी को कोई विशेष अधिकार नहीं होता था । वे गाँव के बाकि आदिवासियों के समान थे ।

जमींदारों ने और विदेशी सरकार ने अपने मतलब से उन्हें लगान में कमीशन या कुछ जमीन के रूप में विशेष अधिकार देकर उन्हें अपना एजेन्ट बनाने की कोशिश की थी और आगे चलकर कई जगहों पर खुद मुण्डा-मानकी भी अपने इन नए विशेष अधिकारों को बनाए रखने की कोशिश करने लगे और इस तरह खुद अपनी ही जाति के आदिवासियों के साथ जमींदारों जैसा बर्ताव करने लगे। इन सब कोशिशों से आदिवासियों की परम्परागत गाँव-व्यवस्था की स्वायत्तता को चोट पहुंची।

19वीं सदी के अन्त तक छोटानागपुर में कई तरह की गाँव-व्यवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं—खूँटकट्टी प्रथा, भूंइहारी प्रथा, प्रधानी प्रथा, पटवाली प्रथा, मंडलई प्रथा आदि-आदि। इन व्यवस्थाओं का वास्तविक रूप क्या था और किस हद तक जमीन्दारी और औपनिवेशिक सत्ता की घुसपैठ ने इन्हें विकृत कर दिया था? इस प्रश्न का सही उत्तर दिए बिना झारखण्ड के आधुनिक इतिहास लेखन की गुत्थी सुलझाई नहीं जा सकती। फादर हॉफमन, शरतचन्द्र राय, आर. डी. हालदार या लिस्टर, जिन्होंने छोटानागपुर के गाँवों की व्यवस्थायों का महत्वपूर्ण अध्ययन किया था, इस गुत्थी को संतोषप्रद ढंग से सुलझा नहीं सके। ऐतिहासिक जाँच पड़ताल के बाद प्रभु महापात्र ने बताया है कि ये सभी व्यवस्थाएँ मूलतः एक जैसी थीं। अपने वास्तविक रूप में ये सभी व्यवस्थाएँ जंगल साफ करके जमीन आबाद करने वाले ग्रामीण समुदायों की स्वायत्त व्यवस्थाएँ थीं जहाँ गाँव की हर चीज पर ग्रामीण समुदाय का सामूहिक अधिकार होता था। अंगरेजी राज के दौरान सरकार ने या जमीन्दारों-राजाओं ने आदिवासी जन-प्रतिनिधियों को—मुण्डा, मानकी, प्रधान, माँझी, मंडल और पटवाल को—अपना एजेण्ट बनाते हुए इन सामूहिक अधिकार वाले गांवों पर व्यक्तिगत सम्पत्ति वाले सामन्ती अधिकारों को ऊपर से थोपने की कोशिश की और कई जगह इसमें सफल रहे; लेकिन परम्परागत सामूहिक अधिकारों के निशान फिर भी पूरी तरह मिटे नहीं।

छोटानागपुर में विभिन्न प्रकार के गांवों की व्यवस्था के अपने अध्ययन में प्रभु महापात्र ने दो कसौटियाँ अपनाई हैं—पहली कसौटी यह कि गाँव पर जमीन्दार का प्रभुत्व किस हद तक था, यानि वह किस हद तक अपने आपको गाँव का मालिक कबूलवा सका। दूसरी कसौटी यह कि गाँव के पुराने निवासी किस हद तक अपनी ताकत दिखा सके, यानी किस हद तक अपने परम्परागत सामूहिक अधिकारों का उपयोग कर सके। —सम्पादक □

"छोटानागपुर में ग्रामीणों के अधिकारों और प्रथाओं को समझने के लिए····· सबसे महत्वपूर्ण शर्त यह है कि बंगाल के दूसरे हिस्सों में प्रचलित भूमि संबंधी सभी विचारों को पूरी तरह से अलग रखा जाए। छोटानागपुर में जोत की इकाई अक्सर कोई व्यक्ति-किसान नहीं, बल्कि समुदाय है और जमींदार जमीन का मालिक नहीं, बल्कि सिर्फ "लगान" नामक एक रकम हासिल करनेवाला-भर होता है और उसका किसानों से कोई सीधा संबंध नहीं होता।"

(पोड़ाहाट सेटलमेण्ट रिपोर्ट-I, पृ० 14)

ऊपर की पंक्तियाँ टी० एस० मैक्फर्सन ने 1905 में पोड़ाहाट रियासत में जोत और परंपरागत अधिकारों की विस्तृत जाँच-पड़ताल के बाद लिखी थीं। यह बात लिख कर वे सरकारी अधिकारियों के उस हिस्से के विचारों को बुलन्द कर रहे थे जिसके विचार से छोटानागपुर के बहुत से हिस्सों में कानूनी रूप से मान्यता प्राप्त जमींदारों और किसानों के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों के पीछे असल में ग्रामीण समुदायों के परंपरागत सामूहिक भू-स्वामित्व के अधिकार छिपे हुए हैं।

स्वामित्व के कानूनी अधिकार और परंपरागत अधिकार के बीच का फर्क छोटानागपुर में पाए गए दो तरह के गाँवों के बीच मिलनेवाले फर्क में देखा जा सकता है। एक ओर ऐसा जमींदारी गांव मिलता है जहाँ जमींदार को जंगल और गैर-आबाद जमीन का बंदोबस्त करने—उन पर किसानों को बसाने—का हर तरह का अधिकार था, किसानों का लगान बढ़ाने और अपनी बकाश्त जमीन पर खेती के लिए किसानों से बेठ-बेगारी लेने का अधिकार था। दूसरी ओर राँची के दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में मुंडाओं के खूंटकट्टी गाँव थे। इनमें गाँव की जमीन पर स्वामित्व का अधिकार गाँव को बसानेवाले खूंट (वंश) के संयुक्त-पितृ-सत्तात्मक अधिकार के रूप में विकसित हुआ था। खूंट के सभी परिवारों-सदस्यों को गाँव की जमीन, जंगल और गैर-आबाद जमीन पर हर तरह का सामूहिक अधिकार था। अपने ऊपर के मालिक (राजा) को ये सिर्फ नाम मात्र का **चन्दा** (लगान नहीं) देते थे और किसी तरह की बेठ-बेगारी या कोई अदताव नहीं देते थे। सर्वे सेटलमेण्ट का काम शुरू होने के समय रांची जिले में ऐसे सिर्फ 156 गाँव रह गए थे।

इन दो तरह के बिल्कुल भिन्न गाँवों की व्यवस्था के बीच ऐसी कई ग्रामीण व्यवस्थाओं के रूप मिलते हैं जिनमें संयुक्त-भू-स्वामित्व के खत्म होते जा रहे अवशेषों को मिटने से बचा लिया गया था। मूल वाशिंदों के उत्तराधिकारों का उपयोग कर रहे थे।

खूंटकट्टी से जमींदारी प्रथा तक

19वीं सदी के अंत में छोटानागपुर में कई तरह की व्यवस्थाओं वाले गाँव मिलते हैं। इन व्यवस्थाओं का अध्ययन करते समय देखना यह चाहिए कि किस हद तक सामूहिक स्वामित्व और परंपरागत अधिकारों का जोर कायम रहा ओर किस हद तक जमींदारी अधिकारों का प्रवेश हुआ। इस तरह अध्ययन करने से हम इन व्यवस्थाओं को एक के बाद क्रमशः विकसित होने वाली व्यवस्थाओं के रूप में देखने की गलती करने से बचेंगे। तार्किक दृष्टि से जो चीज एक के बाद एक आई लगती है, जरूरी नहीं कि वास्तविक इतिहास में भी वह इसी तरह विकसित हुई हो। पुराने विद्वानों जैसे लिस्टर, हॉफमन और हालदार ने छोटानागपुर में विभिन्न प्रकार के गांवों में व्यवस्थाओं को दिखने वाले तार्किक विकास को ऐतिहासिक विकास समझ लिया था। यह मान लिया गया था कि प्राचीनकाल में सारे छोटानागपुर में गाँवों की एक ही व्यवस्था थी, खूँटकट्टी व्यवस्था। (देखिए, शरतचन्द्र राय की मुन्डाज एंड देयर कंट्री, 1970 का संस्करण, पृ० 61-63 आर० डी० हालदार —"एन एकाउन्ट ऑफ दी विलेज सिस्टम ऑफ छोटानागपुर," एपेन्डिक्स टू द रिजोल्यूशन ऑफ गवर्मेन्ट ऑफ बंगाल, पृष्ठ 87-91 दिसम्बर 1830 क्योंकि उस वक्त कोई राजा या जमींदार नहीं होता था, इसलिए लगान भी नहीं लगता था। (देखिए, "रिपोर्ट ऑफ मि० वेवस्टर ऑन टेन्यूर ऑफ छोटानागपुर" स्टैटिस्टिकल एकाउन्ट ऑफ बंगाल, खण्ड XVI में उद्धृत, पृ०385) इस सामूहिक सम्पति का विघटन सबसे पहले इस तरह हुआ कि ग्रामीणों ने अपना एक राजा (मुखिया) चुन लिया जिसे वे **चन्दा** देने लगे। इसीसे धीरे-धीरे सामन्ती सम्पत्ति का विकास होने लगा जब राजा ने अपने रिश्तेदारों को गांव जागीर के रूप में देना शुरू किया। इन माध्यमों के कारण नाम मात्र का पहले वाला **चन्दा** अब **लगान** में बदलता गया और बढ़ने लगा। इसके साथ ही राजा और दूसरे जागीरदारों ने अपनी बकाश्त जमीन बनानी शुरू की और बेगार तथा उबवाब वसूलने लगे। अन्त में ऊपर से थोप दिए गए जमींदारों और दूसरे मध्यस्थों ने गांव की सामूहिक सम्पत्ति को पूरी तरह से तोड़ दिया और खुद ही जंगल

और जमीन के मालिक बन गए और आदिवासियों को रेयत मानकर उनसे सीधे लगान लेने लगे।

संक्षेप में, सामूहिक सम्पत्ति के धीरे-धीरे क्रमशः जमीन्दारी सम्पत्ति में बदलने का यही सिद्धान्त बना। डाल्टन, ए० बी० पॉवर, हालदार और बहुत-से अंगरेज प्रशासक 19वीं में इस सिद्धान्त को मानते रहे। 20वीं सदी के शुरू में फादर हॉफमन, शरतचन्द्र राय, ई. लिस्टर. और एफ० ए० स्लैक ने इसी सिद्धान्त को विकसित किया।

यहाँ हमारा उद्देश्य इन विद्वानों के साथ किसी बहस में उलझना नहीं है। हमारा उद्देश्य यहाँ 19वीं सदी के अन्त में और 20 वीं सदी के शुरू में छोटानागपुर में जो विभिन्न प्रकार की गांव व्यवस्थाएँ मौजूद थीं, उनका चित्र पेश करना है।

मुण्डा खूँटकट्टी व्यवस्था

राँची जिले में 156 खूँटकट्टी गाँव पाए जाने की चर्चा हमने ऊपर की। इन सभी में गाँव पर मुण्डा खूँटकट्टीदारों का सामूहिक स्वामित्व मिला। ये खूँटकट्टीदार गाँव को बसानेवाले मुण्डाओं के पिता की ओर से आए सीधे उत्तराधिकारी थे। खेती करने योग्य भूमि इन्हीं के बीच परिवारों के हिसाब से बँटी हुई थी। इन खूँटकटीदारों की एक विशेषता यह थी कि ये एक ही गोत्र के थे। लिस्टर ने लिखा है कि इस विशेषता का कोई अपवाद नहीं मिलता। (नोट ऑन कांस्टीच्यूशन ऑफ खूटकट्टी एण्ड अदर विलेजेज इन साउथ तमाड़ एण्ड खूँटी; सेलेक्शन फ्रॉम राँची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 74, कमिश्नर का रेकर्ड रूम, राँची) मुण्डा प्रथा के मुताबिक किसी भी मुण्डा को उसके खूँटकट्टी गाँव के अलावा किसी दूसरे गांव में स्थायी रूप से नहीं दफनाया जा सकता। असल में किसी मुण्डा के कब्र के पत्थर (ससान दिरी) को मुण्डा जाति गाँव की खूँटकट्टी जमीन में उसके अधिकार का सबसे निश्चित सबूत मानती थी। गाँव में ऐसे लोग रह सकते थे जो खूँटकट्टीदार नहीं थे; उन्हें परजा कहा जाता था। वे सामूहिक रूप से खूँटकट्टीदारों को लगान देते थे। खूँटकट्टीदार अपने ऊपर के अधिकारी को सिर्फ एक निश्चित रकम चन्दा के रूप में देते थे। 1902-10 के सर्वे में चन्दे की यह रकम औसतन 5 रु० पाई गई। इस चन्दे की रकम के अलावा ऊपर के मालिक (राजा) को गाँव पर और कोई अधिकार नहीं था। गाँव का अन्दरूनी इंतजाम, परजा को बसाने, जंगल, पेड़ और गैर-आबाद जमीन का बन्दोबस्त करने का सारा अधिकार सामूहिक रूप से सिर्फ खूँटकट्टीदारों को था।

गांव के प्रशासनिक मामलों में खूँटकट्टीदारों का प्रतिनिधित्व गाँव का **मुण्डा** करता था और धार्मिक मामलों में **पाहन**। दोनों ही गाँव को बसानेवाले मूल बाशिदों के उत्तराधिकारी होते थे। लेकिन दोनों को ही अपने काम के बदले में किसी तरह की जमीन या दूसरा कोई विशेषाधिकार नहीं होता था। हॉफमन ने लिखा है कि खूँटकट्टी गाँव आमतौर पर दो समूहों में—मुण्डा खूँट और पाहन खूँट—में विभाजित होता था। लेकिन ऐसा विभाजन हर जगह नहीं मिला। 1875 में छोटानागपुर वार्ड इस्टेट के मैनेजर ने लिखा कि खूँटकट्टी गाँव कई खूँटों में विभाजित होता था और हर एक खूँट मूल निवासियों के किसी न किसी व्यक्ति से अपनी वंशावली जोड़ता था। इसी तरह जापानी मानवविज्ञानी सुगियामा कोइशी ने भी 1961 में हूँट नामक एक खूँटकट्टी गांव में पाया कि खूँटकट्टीदार कई खूँटों में बँटे थे जिनकी वंशावली गांव को बसानेवाले व्यक्तियों से जुड़ी हुई थी। उत्तराधिकार की दृष्टि से खूँट एक महत्त्वपूर्ण इकाई थी। मुण्डा प्रथा के मुताबिक सिर्फ पिता की ओर से आए पुरुष उत्तराधिकारी ही संयुक्त भूमि-स्वामित्व में शामिल हो सकते थे। अगर कोई सदस्य बिना पुरुष-सन्तान के मर गया तो उसके हिस्से

की जमीन उसीके खूँट के नजदीकी लोगों को मिलेगी। अगर वह खूँट ही खत्म हो गया तो उनकी जमीन गाँव के मुण्डा की देख-रेख में रहती थी अथवा उसी गोत्र के मुण्डाओं के बीच फिर से बांटी जाती थी। किसी भी हालत में खूँटकट्टी जमीन उस गोत्र के बाहर के आदमी को नहीं मिल सकती थी। खूँटकट्टीदारों को आपस में जोड़कर रखने वाला सूत्र वह जमीन थी जिसे उनके पुरखों ने आबाद किया था जिसमें वे सभी समान रूप से हिस्सेदार थे। इस जमीन को कोई भी खूँटकट्टीदार अपने गोत्र के बाहर न तो किसी को वेच सकता था, न बँधक रख सकता था, न ठेके पर दे सकता था। किसी गैर-मुण्डा को तो जमीन देने का सवाल ही नहीं उठता था।

इस तरह ध्यान देने योग्य बात यह है कि हलांकि गांव की जमीन खेती के लिए गांव के परिवारों के बीच बांट दी जाती थी लेकिन फिर भी वह किसी परिवार या व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं होती थी। यानी व्यक्ति या परिवार जमीन का स्वतंत्र मालिक नहीं होता था। व्यक्ति या परिवार का जमीन पर जो भी अधिकार होता था, वह अधिकार उस खूँट के सदस्य होने के नाते होता था। अगर उसे इस खूँट से या कबीले से निकाल दिया जाता तो उसका जमीन से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। इस तरह के खूँटकट्टी गांवों की दूसरी विशेषता यह थी कि चन्दे के रूप में दी जानेवाली रकम को ऊपर का मालिक (राजा) अपनी मर्जी से बढ़ा नहीं सकता था। 1875 में वेबस्टर ने लिखा कि यह विशेषता पुराने खूँटकट्टी गांवों में मिलती थी, पर 19 वीं सदी के शुरू में बसे गांवों में नहीं मिली। लेकिन 1902-10 के सर्वे में लिस्टर ने पाया कि इन गांवों के चन्दे की रकम में कोई फर्क नहीं आया था। (सेलेक्शन फ्रॉम रांची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 74-75) इसका मतलब यह हुआ कि सिद्धांत रूप में राजा ने जो नया अधिकार हथिया लिया था, व्यवहार में उसे वह कभी भी इन खूँटकट्टी गांवों पर लागू नहीं कर सका !

रांची जिले के खूँटी और तमाड़ इलाकों के ज्यादातर गांवों में आमतौर पर 12 गांवों मिलकर एक **पट्टी** कहलाते थे जिसका मुखिया एक मानकी होता था। मानकी आमतौर पर अपने गांव का मुण्डा भी होता था। गांवों से जमा किए गए चन्दे का एक छोटा अश मानकी को मिलता था और बाकी ऊपर के मालिक को। कभी-कभी पट्टी के कुछ गांव अपना चन्दा सिर्फ मानकी को देते थे। इन्हें **चपुटा** गांव कहते थे। बाकी गांव मानकी के जरिए चन्दा ऊपर के मालिक को देते थे। इन्हें **ठाकुर** गांव कहते थे।

खूँटकट्टी गांव में बाहर से आकर बसे मुण्डा अगर खूँटकट्टीदारों को **सलामी** की रकम देते और जमीन को उनसे खरीदकर हासिल करते तो उन्हें भी गांव में अपना ससान बनाने का अधिकार मिल जाता था जो गांव के दूसरे परजा लोगों को नहीं होता था। इस तरह की जमीन पर आबाद हुए मुण्डाओं का अलग टोला बन जाता था जिसे शिकमी टोला कहा जाता था। इस जमीन के लिए चन्दा खूँटकट्टीदारों को दिया जाता था। यह टोला बाकी हर मामले में खूँटकट्टी गांव जैसा ही होता था।

खूँटकट्टी व्यवस्था को पूरे छोटानागपुर में गांवों की पुरानी व्ययस्था का रूप माना जाता है। पलामू की सीमा पर मिले ससान दिरी के आधार पर वहाँ भी प्राचीन काल में मुण्डा खूँटकट्टी गाँव होने की बात कही जाती है। 19वीं सदी के अन्त तक ऐसी खूँटकट्टी व्यवस्था वाले गाँव सिर्फ राँची जिले के एक छोर पर बच रहे। इनके बचे रहने का एक कारण 1832 के कोल-विद्रोह के बाद औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा मानकी पट्टी

इलाके की इस प्रथा के पक्ष में कुछ कदम उठाना था। कैप्टन टी० विल्किसन ने खूँटी और तमाड़ परगना के मानकियों और मुण्डाओं को स्थाई रूप से मान्यता प्रदान की जिससे इनका चन्दा कभी बढ़ाया नहीं जा सकता था। लेकिन ऐसी मान्यता देते हुए यह गलतफहमी पैदा कर दी गई मानो मानकी और मुण्डा ही इस जमीन के मालिक थे और 1902-10 के सर्वे सेटलमेण्ट तक किसी भी सरकारी रेकर्ड में गांव पर खूँटकट्टीदारों के सामूहिक स्वामित्व के अधिकार का उल्लेख नहीं हुआ। बदकिस्मती से प्रारंभिक सरकारी रिपोर्टों में इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि खूंटकट्टी व्यवस्था वाले गांवों की संख्या कितनी थी। 1888 और 1895 के बीच चली सरदारी लड़ाई के दौरान कई खूँटकट्टी गाँव सरकारी कचहरी के हुक्म से तोड़ दिए गये क्योंकि बहुत से खूँटकट्टी गाँवों ने ऊपर के मालिकों को चन्दा देने से इन्कार कर दिया था। ऊपर के मालिक कचहरी में गए और आसानी से गाँव के मुण्डा के खिलाफ डिग्री हासिल कर ली। रांची की कचहरी ने गांव की जमीन पर खूँटकट्टीदारों के सामूहिक स्वामित्व को न समझकर, इन मुण्डा-मानकियों को मालिक समझकर (और किसानों को उनकी रैयत समझकर) उनके खिलाफ डिग्री जारी कर दी और गाँव को बेचते हुए ऊपरवाले मालिकों को कब्जा दिला दिया। नए खरीददारों ने तब एक-एक खूँटकट्टीदार पर बकाए लगान की नालिश की और कचहरी ने खूँटकट्टीदार को भूतपूर्व मुण्डा की रैयत मानते हुए नालिश कबूल कर ली और उनके लगान को बढ़ाने की इजाजत दे दी (जिसे बिल्किसन ने स्थाई तौर पर बढ़ाने से रोका था) इस तरह इन खूँटकट्टी गांवों की व्यवस्था को तोड़ा गया। (ई० लिस्टर, रांची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 76)

खूँटकट्टी व्यवस्था सिर्फ मुण्डाओं तक या रांची जिले तक सीमित न थी। सभी जन-जातियों जैसे उरांव भूमिज, हो, खड़िया तथा संथालों, यहाँ तक कि कुर्मी, ग्वालों और भूंइयां जातियों के बीच भी ऐसी ही व्यवस्था चलती थी। खूँटकट्टी व्यवस्था रांची के अलावा सिंहभूम, मानभूम और हजारीबाग जिले में चलती थी।

पोड़ाहाट में खूँटकट्टी

राँची जिले से सटे पोड़ाहाट की रियासत में मुण्डाओं के ऐसे कई गांव **कोल्हान पीड़** में पाए गए जिनकी व्यवस्था राँची जिले के खूँटकट्टी गाँवों जैसी ही थी। पोड़ाहाट वाले इन खूँटकट्टी गाँवों की भी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता गाँव की जमीन और जंगल, दोनों पर गांव को आबाद करने वाले खूँट के उत्तराधिकारी पुरूषों का सामूहिक स्वामित्व थी। राँची की तरह यहाँ भू-स्वामित्व के अधिकार की पहचान ससान-दिरी थी। सामूहिक स्वामित्व की दूसरी विशेषता यह थी कि गाँव के जंगल तथा गैर-आबाद जमीन को भी भैय्याद लोगों के बीच बाँट दिया गया था। (पोड़ाहाट सेटलमेन्ट रिपोर्ट, पृ० 164) सामूहिक स्वामित्व का एक और सबूत भैय्याद के सदस्यों द्वारा खेती करने लायक जमीन का विस्तार करने से संबंधित उनका अधिकार था जिसके लिए ऊपर के किसी मालिक से अनुमती लेने की जरूरत नहीं थी। (वही, पृ० 164) राँची के खूँटकट्टी गाँवों से फर्क सिर्फ इस बात का था कि कहीं-कहीं गाँव को एक से ज्यादा गोत्र के मुण्डाओं ने मिलकर बसाया था।

राँची और पोड़ाहाड़ के खूँटकट्टी गांवों में कुछ और फर्क औपनिवेशिक सरकार के अफसरों की दखलअन्दाजी की वजह से पैदा हुए। इनमें से एक फर्क यह था कि पोड़ाहाट के खूँटकट्टी गाँवों में ऊपर के मालिक (पोड़ाहाट के राजा) को जो चन्दा खूँटकट्टीदार देते थे, वह स्थायी नहीं था बल्कि खेती की जमीन की सीमा के मुताबिक उसे बढ़ाया जा सकता था। राँची से दूसरा फर्क यह था कि रांची में चन्दा पूरा गाँव सामूहिक रूप से देता था जबकि पोड़ा-

हाट में यह हर एक खूँटकट्टीदार की दखल की जोत के मुताबिक तय होता था। तीसरा फर्क यह था कि पोड़ाहाट के खूँटकट्टी गांवों में परजा (गैर-खूँटकट्टीदार) अपना लगान खूँटकट्टीदारों को नहीं देते थे बल्कि उनसे भी ऊपर के मालिक उसी दर से लगान लेते थे जिस दर से खूँटकट्टीदारों से लिया जाता था। लेकिन फिर भी, अपनी जोत बढ़ाने के लिए परजा लोगों को गांव के खूँटकट्टीदारों से ही इजाजत लेनी पड़ती थी। यह आखिरी बात एकबार फिर गाँव की जमीन पर खूँटकट्टीदारों के सामूहिक स्वामित्व का सबूत देती थी।

पोड़ाहाट के खूँटकट्टी गांवों में यह जो फर्क—नई विशेषताएँ—दिखाई दिए, इनकी वजह खूँटकट्टी व्यवस्था का क्रमशः विकास नहीं था, बल्कि अंगरेजी राज का हस्तक्षेप था। मैक्फर्सन ने लिखा है कि 1839 तक पोड़ाहाट के राजा को मुण्डारी तथा हो गांवों के मानकी-मुण्डाओं के जरिए वस्तुओं के रूप में अनियमित ढंग से कुछ भेंट मिलती थी। इस समय तक भेंट की मात्रा को बढ़ाने का सवाल भी नहीं था। 1839 में पोड़ाहाट रियासत सरकार के कोर्ट वार्ड के मातहत आ गई। कोल विद्रोह पर हाल ही में काबू पाने में सफल हुई सरकार ने तय किया कि अब भेंट को एक निश्चित आधार पर तय किया जाए। इस तरह पोड़ाहाट में भी, पास के कोल्हान की तरह, हल पर आधारित टैक्स की वसूली शुरू हुई। पूरे गाँव से सामूहिक रूप से लगान लेने की जगह अब हर एक किसान से उसकी जोत (हल यहाँ जोत की नाप का आधार था) के मुताबिक लगान गाँव के मुण्डा या मानकी के जरिए वसूलना तय हुआ। हल भी जोत की नाप की सिर्फ अंदाज भर था, जोत की असल में नाप कभी नहीं हुई। गदर के बाद 1858 में पोड़ाहाट रियासत सरकारी रियासत बना दी गई। 1880 में हल के आधार पर लगान वसूली छोड़कर दोन जमीन की नियमित नापी हुई और खूँटकट्टीदार और परजा, दोनों से उनकी दोन जमीन की नाप के मुताबिक लगान लिया जाने लगा। इसके बाद एक और नई बात जोड़ी गई—गाँव के कुल लगान का 25% हिस्सा मुण्डा या मानकी को उनके काम के एवज में दिया जाने लगा। कोल्हान रियासत में और पोड़ाहाट के गैर-आदिवासी गाँवों में भी सरकार मुण्डा-मानकियों को इस तरह का कमीशन दे रही थी। इस तरह पोड़ाहाट के गाँवों की पुरानी खूँटकट्टी व्यवस्था को एक हद तक बदल दिया गया और पहले सामूहिक रूप से दी जाने वाली भेंट की स्थायी मात्रा को अब लगातार बढ़ाए जा सकने वाले लगान में बदल दिया गया। यह लगान अब खूँटकट्टीदार किसान को रैयत बनकर देना पड़ रहा था। इस तरह राँची और पोड़ाहाट की खूँटकट्टी व्यवस्था के बीच फर्क पैदा हुआ।

इस फर्क के बावजूद गाँव के अन्दरूनी मामलों में, 1880 ई० तक, सरकारी दखलअंदाजी सिर्फ दोन जमीन की नापी और लगान वसूली तक सीमित रही। मैक्फर्सन ने लिखा है कि इस नए ढंग की लगान वसूली को आदिवासियों ने राज्य की कर्रवाई के रूप में मान लिया। लेकिन मैक्फर्सन ने यह भी लिखा कि सरकार की यह कार्रवाई इस गलतफहमी पर आधारित थी कि जमीन का असली मालिक पोड़ाहाट का राजा है और अब सरकार ने राजा के अधिकार खुद ले लिए थे। इस सरकारी कार्रवाई के बावजूद इन गांवों में सामूहिक स्वामित्व वाली व्यवस्था पूरी तरह नहीं टूटी। इसके बाद भी खूँटकट्टीदार गांव के मुण्डा को चुनने और जंगलतथा गैर-आबाद जमीन का बन्दोबस्त खूँटकट्टीदार परिवारों के बीच करने के परम्परागत अधिकारों का उपयोग करते रहे। हकीकत यह थी कि 1880 में जब सरकार ने पोड़ाहाट में भीतर तैयार खेतों का

लगान वसूल करने और वसूल करके अपने ही पास रख लेने का पूरा अधिकार मुण्डा-मानकियों को दे दिया, तब भी, इन खूँटकट्टी गांवों की परम्परागत व्यवस्था इतनी मजबूत थी और आदिवासियों में अपने सामूहिक स्वामित्व के अधिकार की भावना इतनी प्रबल थी कि किसी भी गांव के मुण्डा और मानकी को इतनी हिम्मत नहीं हुई वह सरकार द्वारा दिए गए नए अधिकारों का इस्तेमाल कर सके। इसलिए मैक्फर्सन ने पोड़ाहाट गाँवों के खूँटकट्टी चरित्र को मान्यता देने की जबर्दस्त वकालत करते हुए यह दावा किया कि इन गांवों की व्यवस्था का चरित्र ग्रामीणों के सामूहिक स्वामीत्व की परम्परा से तय होता है, लगान वसूली के नए इंतजाम से नहीं।

लेकिन, चूंकि सरकार ने 'राँची' मॉडल को ही अटूट खूंटकट्टी गांवों का मॉडल माना तय किया था और 1900 ई० के छोटानागपुर टिनेंसी एक्ट में इसी मॉडल के गाँवों को शामिल किया था, इसलिए, पोड़ाहाट के खूँटकट्टी गाँवों में ऐसा मॉडल नहीं होने के कारण सरकार ने 1928 के रीवीजनल सर्वे में जंगल और गैर-आबाद जमीन को सामूहिक स्वामित्व के अधीन न मानकर ऊपर के मालिक (पोड़ाहाट के राजा, जिसे 1896 में फिर से बहाल कर दिया गया था) के नाम दर्ज कर दिया। हलाँकि इसके बावजूद बिना ऊपर से अनुमति लिए मूंडारी खूँटकट्टीदारों के अपने जोत में विस्तार करने के अधिकार को बरकरार रखा गया। इस सरकारी कार्रवाई से दो नतीजे निकले। एक यह कि अपनी जोत का विस्तार करने पर अब मुण्डारी खूँटकट्टीदारों को बढ़ी हुई नई जोत पर पूरा लगान देना पड़ा; दूसरा यह कि जंगल पर अधिकार राजा का हो गया। इसके बाद पोड़ाहाट रियासत एक बार फिर राजा के हाथ से निकल कर अंगरेज सरकार के हाथ आ गई और इस तरह जंगलों की असली मालिक खुद सरकार बन बैठी।

यह बात विवादास्पद हो सकती है कि पोड़ाहाट की खूँटकट्टी व्यवस्था और राँची की खूँटकट्टी व्यवस्था, इन दोनों में मूल खूँटकट्टी व्यवस्था के नजदीक कौन थी। मैक्फर्सन का विचार था कि अगर सरकारी दखलअंदाजी न हुई होती तो पोड़ाहाट वाली व्यवस्था मूल व्यवस्था के ज्यादा नजदीक होती (वही, पृ० 163) सम्भवतः राँची में खूँटकट्टी गाँव बाद में और बिखरे हुए ढंग से बनाए गए थे। पोड़ाहाट में, ऐसा लगता है कि गाँव किसी एक गोत्र को केन्द्र में रखकर उसके सदस्यों के फैलाने से अपने-आप बनते गए थे। इसके अलावा राँची में कई खूँटकट्टी गाँव ऊपर के मालिकों से अनुमति लेकर बसाए गए थे जबकि पोड़ाहाट में ऐसी कोई अनुमति नहीं ली गई थी। (लिस्टर; सेलेक्शन फ्रॉम रांची सेटलमेण्ट पेपर्स पृ० 74) इससे लगता है, शायद पोड़ाहाट में गाँव आबाद करने का काम राजा की रियासत बनने से बहुत पहले ही पूरा हो चुका था।

पोड़ाहाट की खूँटकट्टी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण विशेषता गांव के चन्दे से एक अंश मुण्डा और मानकी को देने की थी। इस प्रथा का चलन विदेशी सरकार ने पोड़ाहाट के गैर आदिवासी सदांतपीड़ के चलन के मुताबिक किया था जहाँ प्रधानी व्यवस्था चलती थी।* यहाँ 1839 तक गांव

* सदांत पीड़ —कोल्हान या आदिवासी पीड़ से अलग सदांत पीड़ शब्द सदान शब्द से बना था जिससे स्थानीय गैर-आदिवासी समुदाय का बोध होता था। पोड़ाहाट में ऐसा सदांत पीड़ का क्षेत्र चक्रधरपुर के समतल इलाके में, घाट के नीचे तक पड़ता था। इस क्षेत्र में उन भूइंयाँ लोगों के गांव थे जो पोड़ाहाट के राजा के सिपाही का काम करते थे। इनके गांवों की व्यवस्था कोल्हान पीड़ से बिल्कुल अलग थी। कोल्हान पीड़ मूलतः मुण्डारी खूँटकट्टी व्यवस्था थी। सदांत पीड़ की व्यवस्था के विस्तृत विवरण के लिए पोड़ाहाट सेटलमेण्ट रिपोर्ट देखिए।

के प्रधान के जमींदार के लिए लगान वसूली करने एवज में कमीशन के रूप में कुछ लगान-मुक्त जमीन (मनिया) दे दी जाती थी। इस कमीशन को अंगरेज सरकार ने रकम में बदल दिया था। इस बात के सबूत मौजूद है कि मुण्डारी खूँटकट्टी व्यवस्था में जिस तरह खूँटकट्टीदार ग्रामीणों को परजा की भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का अधिकार था, वैसा सामूहिक या संयुक्त अधिकार सदंत पीड़ के गांवों में नहीं था। सदांत पीड़ में गांव ऐसे समूह या पीड़ में भी संगठित नहीं होते थे जिसका मुखिया कोई मानकी हो। यहाँ गांव के मुखिया प्रधान-से राजा का सीधा सम्बन्ध होता था। फिरभी, राजा की ताकत इतनी ज्यादा नहीं थी कि वह ग्रामीण समुदाय के मुखिया-प्रधान-को नजरअन्दाज करके चल सके।

इस व्यवस्था का वर्णन आगे किया जाता है।

प्रधानी व्यवस्था

प्रधानी व्यवस्था अधिकांशतः पोड़ाहाट, धालभूम और मानभूम के गांवों में चलती थी। अपने मूल रूप में प्रधानी व्यवस्था बंगाल से सटे हुए मिदनापुर जिले में प्रचलित **मण्डलई व्यवस्था** से मिलती-जुलती थी। मण्डलई व्यवस्था के बारे में रेण्ट कमीशन ने लिखा है :

"जमींदार किसी अच्छे खाते-पीते रैयत को, जिसे आबादकार कहा जाता था, गैर-आबाद जमीन प्रदान करता था जो इसे खेती के लिए आबाद करने का जिम्मा लेता था और बदले में जमींदार को लगान के रूप में कोई एकमुश्त रकम देता था। यह आबादकार कुछ तो अपने परिवार तथा आश्रितों के श्रम से और कुछ ऐसे दूसरे रैयतों के श्रम से, जो उसके मातहत बसने को इच्छुक होते, जमीन को साफ करके उसपर गाँव आबाद करता था। इस गाँव का नाम अक्सर उसी के नाम से होता और आबादी के मुखिया के रूप में उसे **मण्डल** कहा जाता। समय-समय पर जमींदार और मण्डल आपसी बातचीत से लगान के रूप में दी जानेवाली रकम तय कर लेते थे। जमींदार मण्डल और उसके रैयतों के बीच किसी बात में कभी दखल नहीं देता। सेटलमेण्ट कार्रवाई के दौरान सरकार उनके कुल जमा में से 15% काट लेती थी और उन्होंने भी समय बीतने के साथ इसे अपनी हैसियत के लिए पर्याप्त मान्यता के रूप में मान लिया।"

(पोड़ाहाट सेटलमेण्ट रिपोर्ट—I, पृ० 125)

मिदनापुर में मण्डलई पद हस्तांतरणीय था। पोड़ाहाट में प्रधानी पद हस्तांतरणीय नहीं होता था। लेकिन उसकी हैसियत हर तरह से मण्डल जैसी ही थी। जमीन पट्टे पर उठाने की इसी से मिलती-जुलती एक और प्रथा **जंगलबाड़ी तालुक** नाम से बंगाल के जंगलमहल इलाके (जिसमें मानभूम के कुछ हिस्से शामिल थे) में चलती थी। इस पट्टे की प्रथा में "पहले जंगल साफ करने के लिए लगान-मुक्त इलाका दे दिया जाता था। फिर, कुछ साल बाद जितनी जमीन पर खेत तैयार होते, उस पर एक खास लगान लगाया जाता और इसकी दर परगने के लगान के मुताबिक तय कर दी जाती।" इस तरह पोड़ाहाट और धालभूम का प्रधानी पद दक्षिण-पश्चिम बंगाल में प्रचलित उपरोक्त दोनों प्रकार के पदों जैसा ही था। 1860 ई० तक पोड़ाहाट में कई बड़े इलाके जंगल साफ करके खेत और गांव आबाद करने के लिए पहले लगान-मुक्त रूप में दिए गए जिन पर कुछ साल बाद एकमुश्त लगान लिया जाने लगा। सभी संथाली तथा हो गांवों में इस तरह की जोत खूँटकट्टी कहलाई।

प्रधानी पद के अहस्तांतरणीय होने की कुछ वजह तो यह थी कि उस समय गांव बसाने के लिए प्रतियोगिता बहुत कम थी, लेकिन मुख्य वजह यह थी कि प्रधानी का पद और निजी स्वामित्व एक ही चीज नहीं थी। प्रधानी व्यवस्था जहाँ कहीं भी मिली, यह देखा गया कि "अधिकांश मामलों

में जंगल साफ करके अर्जित की गई जमीन पर प्रधान के मातहत उसके पूरे ग्रामीण समुदाय, उसके परिवार तथा नजदीकी लोगों का संयुक्त स्वामित्व होता था।" (वही, पृ० 126) ग्रामीणों को खेती लायक गैर-आबाद जमीन और जंगल पर समान हक होता था और गांव के प्रशासन में भी उनको समान भागीदारी होती। इस तरह प्रधानी पद पूरे गांव के संयुक्त स्वामित्व का प्रतिनिधित्व करता था और प्रधान का पद एक हाथ से दूसरे हाथ जाने का मतलब गांव का हस्तांतरण नहीं था। गांव के किसानों के साथ प्रधान का रिश्ता यह था कि वह किसानों और जमींदार (राजा) के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाता, बिना किसी कमीशन के लगान जमा करता और गांववालों के साथ सलाह करके जंगल और गैर-आबाद जमीन का बंटवारा करता, खाली पड़ गई जमीन का बन्दोबस्त करता, बाहर से आए लोगों को बसाने और गांव को प्रभावित करनेवाले हर एक मामले को तय करता। (वही, पृ० 127) खूँटकट्टी प्रधान का पद वंशानुगत होता और हमेशा बड़े बेटे को ही प्रधानी का पद मिलता। अगर कोई बेटा न हो तो वह किसी नजदीकी रिस्तेदार को मिलता, लेकिन किसी भी हालत में किसी बाहरी आदमी को नहीं मिलता। पोड़ाहाट में प्रधान को नगद रुपए के रूप में पारिश्रमिक देने का चलन मिदनापुर की देखादेखी में 1840-46 के बीच शुरू हुआ। लेकिन, जैसा कि मैकफर्सन ने लिखा है, पोड़ाहाट के सदांत गांवों में प्रधान के अधिकार मिदनापुर के मण्डल के अधिकारों के मुकाबले ज्यादा व्यापक थे और साथ ही ग्रामीण समुदाय के भी अधिकार मिदनापुर के मुकाबले पोड़ाहाट सदांत पीड़ में, खासकर कोल्हान इलाके में, कहीं ज्यादा व्यापक थे।

इससे साबित होता है कि प्रधानी व्यवस्था खूँटकट्टी व्यवस्था का ही कमो-बेश बदला हुआ रूप था। इस व्यवस्था में संयुक्त स्वामित्व वाले समुदाय से अलग कोई परजा नहीं थी (जैसे खूँटकट्टी व्यवस्था में थी) क्योंकि एकबार ग्रामीण समुदाय में दाखिल हो जाने के बाद गैर-आबाद जमीन और खाली जमीनों पर सभी रैयतों का समान अधिकार हो जाता था। प्रधानी मियाद (जमींदार ने जितने साल - पांच या सात साल—के लिए एकमुश्त लगान तय किया, वह मियाद) पूरी हो जाने पर जमींदार उसे उखाड़ नहीं फेंकता था और न ही गांव आबाद करनेवाले परिवारों से बाहर के किसी आदमी को प्रधान बनाता था। लेकिन जमींदार (राजा) प्रधानी के अधिकार खुद हथिया लेने की कोशिश करता रहता था। ऐसा वह अक्सर प्रधानी गांव को किसी पेशेवर ठीकेदार के हवाले कर के अथवा गांव के पट्टे की मियाद खत्म होने पर उसे अपने खास गाँव में बदलकर करता। फिर भी, नीचे दी गई तालिका से पता चलता है कि ज्यादातर गाँवों के प्रधान उन गांवों के खूँट-कट्टी (गाँव आबाद करने वाले) परिवारों के ही सदस्य थे।

पोड़ाहाट में प्रधानी व्यवस्था : 1905

गांवों की संख्या			प्रधानी गाँव		आदिवासी प्रधानों की संख्या		गैर-आदिवासी प्रधानों की संख्या	
प्रधानी	खास	कुल	आदिवासी प्रधान	गैर-आदिवासी प्रधान	खूँटकट्टी प्रधान	गैर-खूँटकट्टी प्रधान	खूँटकट्टी प्रधान	गैर-खूँटकट्टी प्रधान
507	81	678	377	220	332	45	113	107

स्रोत : एपेन्डिक्स V पोड़ाहाट सेटलमेण्ट रिपोर्ट

तालिका से पता चलता है कि आदिवासी प्रधानों की संख्या खूँटकट्टी परिवारों से आई थी, जबकि गैर-आदिवासी प्रधानों की सिर्फ आधी संख्या खूँटकट्टी परिवारों की थी, आधी नहीं थी। ये गैर-खूँटकट्टीदार ज्यादातर पेशेवर ठीकेदार थे अथवा खूँटकट्टी भूंइयाँ प्रधानों (पोड़ाहाट राजा के नाइक और पाइक) द्वारा गाँव छोड़कर चले जाने के बाद सरकारी बन्दोबस्त के मातहत प्रधान बने थे। इसके बावजूद 19वीं सदी के अंत तक पोड़ाहाट रिया-

सत में प्रधानी व्यवस्था की प्रधानता बनी रही।

धालभूम में कुल 1686 गाँवों में से 965 गाँवों में प्रधानी व्यवस्था थी। तीन तरह के प्रधान थे। एक तो खूँटकट्टी प्रधान थे जिन्हें गाँव में स्थाई तौर पर उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त था। दूसरे गैर-खूँटकट्टीदार प्रधान थे जिन्हें उत्तराधिकारऔर स्वामित्व के स्थायी अधिकार प्राप्त थे। ये पहली किस्म के प्रधान जैसे ही थे, फर्क इतना था कि इनके मातहत गाँवों का बन्दोबस्त मूल बाशिंदों के चले जाने के बाद फिर से किया गया था। तीसरे तरह के प्रधान वे ठीकेदार या लगान जमा करनेवाले व्यक्ति थे जिन्हें राजा ने नियुक्त किया था। इनमें से कई सिर्फ ठीकेदार या इजारेदार थे जिन्हें थोड़े समय के लिये गाँव से लगान वसूली का ठीका मिला था।

जातियों के मुताबिक विभिन्न प्रकार के प्रधानों के मातहत गांवों की संख्या : 1906-11

	संथाल	भूमिज	मुंडा	कुर्मी	बागल	सदगोप	माल	भूंइयां	सूरी	तेली	दूसरे	कुल
1. खूँटकट्टी प्रधान	154	38	7	26	5	3	2	1	—	—	46	283
2. गैर-खूँटकट्टी प्रधान—उत्तराधिकार के हक सहित	53	14	3	44	2	55	2	—	11	40	94	318
3. गैर-खूँटकट्टी प्रधान—बिना उत्तराधिकार हक के	54	4	2	30	2	33	3	1	15	33	164	342
कुल	261	56	12	100	9	91	8	2	2	73	304	965

स्रोत—धालभूम सेटलमेण्ट रिपोर्ट, पृ० 26

तालिका से जाहिर है कि आदिवासी प्रधानों की संख्या कम होने के बावजूद काफी गाँवों में (986 में से 448 गांवों में) थी। दूसरे, उत्तराधिकार के हक वाले ज्यादातर खूँटकट्टी प्रधान और गैर-खूँटकट्टी प्रधान भी आदिवासी जातिओं के थे। गैर-आदिवासी प्रधान ज्यादातर ऐसे थे जो उत्तराधिकार के हक से रहित, गैर-खूँटकट्टीदार तथा अस्थाई प्रधान थे।

प्रधान का मुख्य काम किसानों के बीच गैर-आबाद जमीन का बँटवारा करना होता था। प्रधान को पाँच साल के बाद नए तैयार किए गए खेत का लगान तय करने और अगले सेटलमेन्ट के होने तक इनका लगान खुद हासिल करने का भी हक था। लेकिन दो बन्दोबस्त के बीच प्रधान और राजा के बीच तय हुए लगान की रकम बढ़ाई नहीं जा सकती थी।

पोड़ाहाट के आदिवासी-बहुल गांवों की और धालभूम की मिश्रित आबादी वाले गाँवों की प्रधानी व्यवस्था में एक खास फर्क यह था कि धालभूम में ग्रामीण समुदाय के संयुक्त स्वामित्व को दरकिनार कर प्रधानी पद को गाँव के भू-स्वामी के रूप में बदलने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती थी। यह प्रवृत्ति अस्थाई प्रधान वाले गाँवों में दिखलाई पड़ती थी। हलांकि धालभूम के प्रधानी गांवों में किसानों से **सलामी** लेने की प्रथा की मनाही थी, फिर भी देखा गया कि 1934 में प्रधानों ने 1400 एकड़ जमीन का बन्दोबस्त करने के लिए 80000 रु० सलामी के रूप में

लिए थे। इसकी तुलना 1928 में पोड़ाहाट की स्थिति से करें तो देखते हैं कि सलामी के उदाहरण बहुत कम थे और ये उदाहरण भी सिर्फ वैसे गांवों तक सीमित थे जहाँ प्रधान गाँव के खूँटकट्टी परिवार से नहीं आए थे। इसके अलावा, पोड़ाहाट के मुकाबले धालभूम में प्रधानी व्यवस्था को तोड़ने के लिए राजा या जमींदारों की कोशिशें कहीं ज्यादा आगे बढ़ी हुई थीं। असल में प्रधानी व्यवस्था को तोड़ने की कोशिशें पूरे छोटानागपुर में, जहाँ-जहाँ यह व्यवस्था थी, दिखाई देती थी। हजारीबाग जिले के दक्षिणी और पूर्वी हिस्से में, खासकर गिरिडीह सब-डीवीजन में प्रधानी व्यवस्था वाले गांव थे। (हजारीबाग के 7007 गाँवों में से सिर्फ 412 गाँवों में प्रधानी व्यवस्था थी जिनमें से 306 गाँव गिरिडीह सब-डीवीजन में पड़ते थे) इनमें से ज्यादातर गांवों को संथालों ने जंगल साफ करके आबाद किया था। सिफ्टन ने पाया कि यहाँ की प्रधानी व्यवस्था बुनियादी तौर पर धालभूम की प्रधानी व्यवस्था जैसी ही थी, हलांकि "धालभूम की तरह हजारीबाग में यह पूरी मजबूती के साथ कभी कायम नहीं हो सकी।" (जे० टी० सिफ्टन द्वारा छोटानागपुर के कमिश्नर को दिए गये स्मार-पत्र, 6-2 1911 से; हजारीबाग सेटलमेण्ट पेपर्स, कमिश्नर रेकर्ड रूम, राँची)

संथाल गांवों में जहाँ प्रधान मौजूद थे, लगान की रकम खेतों के विस्तार के साथ समय-समय पर तय कर ली जाती थी। प्रधान को अपने काम के बदले में जमीन का टुकड़ा नहीं मिलता था, पर लगान जमा करने के एवज में अक्सर कुछ कमीशन मिल जाता था। प्रधान और रैयत के हक धालभूम की प्रधानी व्यवस्था जैसे ही थे। संथाली गाँवों के अलावा कुछ दूसरी जातियों के गांवों में भी एक अलग किस्म की प्रधानी व्यवस्था चलती थी। इन गाँवों में प्रधान के अधिकारों का उसके वारिसों के बीच बँटवारा अक्सर संयुक्त ठेकेदारी व्यवस्था के रूप में हो जाता था। (हजारीबाग सेटलमेण्ट पेपर्स में शामिल "रिपोर्ट ऑफ दी सर्वे एण्ड सेटलमेण्ट ऑपरेशन इन छोटानागपुर फॉर दी ईयर एंडिंग 30 एथ सेप्टेम्बर, 1911-12") चोरपारन थाने में एक अजीब किस्म का विकास देखने में आया जहां गांव की गैर-आबाद जमीन पर सोलह आने रैयत कहलाने वाले ग्रामीणों के एक समूह का कब्जा था! सिफ्टन का विचार था कि सोलह आने रैयत गाँव को मूलतः आबाद करने वाले प्रधान-परिवार के वारिस थे। इनलोगों ने बाद में प्रधानी का आपस में बँटवारा कर लिया होगा और आगे चलकर खुद मामूली रैयत रह गए होंगे, लेकिन, गैर-आबाद जमीन पर उनका संयुक्त स्वामित्व बना रहा होगा और इसीलिए जो दूसरे रैयत इस जमीन को खेती के लिए लेते थे, वे अपना लगान राजा या जमींदार को न देकर इन सोलह आना रैयतों को देते थे। (वही) लेकिन, ऐसी बची-खुची निशानियों को छोड़कर यहाँ प्रधानी व्यवस्था की और कोई पहचान नहीं मिली। पेशेवर ठीकेदारों ने हर कहीं पुरानी व्यवस्था को हटाकर अपने पाँव जमा लिए थे। गिरिडीह थाने की सबसे मुख्य विशेषता यह था कि दाओमी ठीका (स्थायी पट्टे) पाए गए जो छिपे रूप में प्रधानी पद थे। ऐसे गांवों की सबसे मुख्य विशेषता यह थी कि दाओमी ठीके का न तो बँटवारा हो सकता था, न हस्तांतरण। इस पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है कि प्रधानी या दाओमी ठीकेवाली जोतों के ये सभी रूप उन इलाकों में पाए गए जो अपेक्षाकृत पिछड़े हुए इलाके थे।

"इन जोतों का उद्देश्य मुख्यतः पिछड़े इलाकों को विकसित करना था और ठीकेदार (दाओमी ठीकेदार) को जब चाहे उजाड़ने का विचार इस उद्देश्य से मेल नहीं खाता और पट्टे को देने के मकसद को ही खत्म कर देता था। समय और परम्परा ने, प्रथा और व्यवहार ने, जोत के मूल उद्गम और उद्देश्य ने ही इसे स्थायी बना दिया था।"

(दाओमी ठीके पर एन० एल० बोस की रिपोर्ट; पृ० 75; हजारीबाग सेटलमेण्ट पेपर्स)

लेकिन गांवों का विकास हो जाने के बाद अक्सर इन जोतों को लगान वसूली के अस्थायी पट्टे के रूप में बदल दिया जाता था जिन्हें मियाद पुरी हो जाने पर बदला जा सकता था। तब गांव के प्रधान की जगह सचमुच के ठीकेदार या लगान जमा करनेवाले अस्थायी अधिकारी नियुक्त कर दिए जाते। दक्षिण-पूर्वी हजारीबाग के पालगंज रियासत के संथाली गाँव इस तरह के विकास के सबसे अच्छे उदाहरण थे। 1873 तक इस रियासत के 70 संथाली

गांव अपने प्रधान के मातहत बहुत-ही कम लगान अदा करते थे। जमींदार के द्वारा लगान बढ़ाने, बेगार लेने और अबताब वसूलने की बढ़ती मांग की वजह से संथाली किसान संघर्ष पर उतर आए। सरकारी हस्तक्षेप से संथालों और जमींदारों के बीच एक समझौता हुआ जिसके मुताबिक जमींदार अपनी मांगें को छोड़ने और अगले दस दाल तक के लिए एक निश्चित लगान तय करने को राजी हो गया बशर्ते संथाल अपनी जमीन की नापी कराएंगे और पास की रियासत धनवार (जो शुद्ध जमींदारी इलाका था) में प्रचलित दर से लगान अदा करेंगे। संथाल प्रतिनिधि भी, लगता है, इस पर राजी हो गए। लेकिन जैसे ही जमीन की नापी हुई और लगान की नई दर लागू हुई, देखा गया कि लगान पहले से बहुत ज्यादा बढ़ गया है। जब संथालों ने इस नए लगान को देने से इनकार कर दिया तो उनके प्रधान पर बकाए लगान की नालिश दायर हुई और एक के बाद एक पेशेवर ठीकेदार गाँवों में लाए जाने लगे। इस तरह 1908 तक इन 70 संथाली गाँवों में से सिर्फ 15 गाँवों में ही माँझी प्रधान बच सके। बाकी गाँवों में नए आए ठीकेदारों ने तुरन्त नया लगान लागू किया और संथाल रैयतों को बेदखल करना शुरू किया (हजारीबाग सेटलमेन्ट पेपर्स, पृ० 52-66) तब बँटाईदार के रूप में संथाल बेठ-बेगारी और अबवाब देने को मजबूर हुए। इस पर भी जब संथालों ने अपना विरोध नहीं छोड़ा, तो सरकार ने सम्पत्ति के कानून का तर्क पेश करते हुए कहा, "जमींदार ने संथालों को अपनी सम्पत्ति-जमीन पर कई खास अधिकार देकर बसाया और हलांकि यह सच है कि इन्हीं संथालों ने अपनी कड़ी मेहनत से गाँवों को आबाद किया था, फिर भी, इससे उन्हें जमींदार की सम्पत्ति में अपना दावा जताने का हक नहीं मिल जाता। सम्पति पर मालिकाना हक जमींदार का है और उसे हक है कि वह इसे पट्टे पर दे या अपनी पसन्द के किसी भी आदमी को दे।" (वही, पृ० 59)

सिफटन ने नोट किया कि परम्परागत संथाल प्रधान की जगह बाहरी ठीकेदारों को लादने के फलस्वरूप इस अन्याय के विरोध में संथाल अपने पुरखों के गाँवों को सामूहिक रूप से छोड़कर चले गए। (कमिश्नर को सिफटन का स्मार-पत्र 6-2-1911, हजारीबाग सेटलमेण्ट पेपर्स)

जैसा कि हमने पहले भी देखा, हजारीबाग जिले में जमींदार गाँव के प्रधान को, माँझी, महतो को ठीकेदार के रूप में या लगान जमा करने वाले के रूप में नियुक्त करता था। (शायद यह तरीका पहले से, 19वीं की शुरूआत से, चला आ रहा हो और मुमकिन है कि ऐसी ही वजहों से, यानी संथाली प्रधानों को हटाकर और आदिवासियों के परम्परागत अधिकारों को छीनकर बाहरी ठीकेदारों को बैठाने के फलस्वरूप ही संथाल इन इलाकों को छोड़कर दामिन-ई-कोह वाले इलाके में चले गए हों) लेकिन, संथाल प्रधान, मांझी या महतो को ठीकेदार का नाम दे देने से ही गलतफहमी पैदा हुई जिसके अंगरेज अफसर शिकार हुए। क्योंकि, प्रधान, माँझी या महतो शब्द एक सामूहिक स्वामित्व के अधिकारवाले ग्रामीण समुदाय के प्रतिनिधि के लिए चलते थे जबकि ठीकेदार ऊपर से जमींदार द्वारा नियुक्त एजेंट होता था। प्रधान, माँझी या महतो को ठीकेदार कहने से यह गलतफहमी फैली कि इन्हें जमींदारों ने नियुक्त किया था। सम्पत्ति संबंधी सरकारी कानून इस गलतफहमी के शिकार थे।

लेकिन, कई मामलों में इसके उल्टे उदाहरण भी मिले। कुछ इलाकों में जहाँ प्रधानी व्यवस्था चलती थी, यह पाया गया कि अस्थायी पट्टे पर आये पेशेवर ठीकेदार को भी गांव का मांझी, महतो या प्रधान समझा जा रहा है। हंटर ने नोट किया कि मानभूम में कई बार गांव से लगान वसूलने के लिए ठीकेदार को—ब्राह्मण ठीकेदार तक को—मांझी कहा जाता था जो कि संथालों में ग्रामीण समुदाय के मुखिया का पद-नाम था। (हंटर, स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट ऑफ बंगाल, खण्ड XVII, पृ० 305-6)

ऊपर हमने देखा कि किस तरह गांव का प्रधान अब जंगल साफ करके गांव बसाने वाले वंश के उत्तराधिकारियों के सामूहिक अधिकारों का प्रतिनिधि होने के बजाय जमींदार या राजा का एजेंट बनता गया जिसे गांव के लगान का एक अंश कमीशन के रूप में मिलने लगा। इससे प्रधानी व्यवस्था का अर्थ बदल गया। अब प्रधानी व्यवस्था एक ऐसी सम्पत्ति के रूप में विकसित हुई जो ग्रामीण समुदाय की संयुक्त सम्पत्ति से भिन्न किस्म की थी। एक सम्पत्ति के रूप में प्रधानी के उभरने से जमींदार या राजा

की ताकत भी बढ़ गई। पहले वह सिर्फ लगान-भर हासिल करता था, अब वह प्रधान को नियुक्त करने लगा और उसके जरिए गांव की व्यवस्था के मूल चरित्र को तोड़ने लगा।

घटवाली व्यवस्था

यहाँ हम घटवाली व्यवस्था का अध्ययन पेश करते हैं। यह व्यवस्था बड़ाभूम, धालभूम और हजारीबाग के इलाकों में चलती थी। धालभूम के मानबजार थाना और बड़ाभूम में घटवाल आम तौर पर भूमिज कबीले के होते थे। हजारीबाग में घटवाल भूंइयाँ कबीले के थे।

घटवालों के बारे में समझा जाता है कि वे मूलतः पहाड़ी रास्तों (घाटों) के रखवाले होते थे और उनका काम घाटों पर और घाट वाले इलाकों पर निगरानी रखना होता था। क्योंकि उनका यह काम उनके पद के साथ जुड़ गया था, इसलिए यह गलतफहमी पैदा हुई कि उन्हें यह पद उनके इसी काम के बदले में जमींदार या सरकार ने दिया था।* लेकिन उनके पद के उद्गम और स्वरूप की गहराई से जांच-पड़ताल करने के बाद यह साफ हो गया है कि घटवाली व्यवस्था मूलतः रांची के मुंडाओं की खूंटकट्टी व्यवस्था जैसी ही थी। यह व्यवस्था जंगल साफ करके गाँव बसाने की सभी आदिवासी जातियों की व्यवस्था का ही एक विकसित रूप थी। (घटवाली पद के स्वरूप और उस पर हुए वाद-विवाद के लिए देखिए धालभूम सेटलमेण्ट रिपोर्ट, पृ० 28-40; मानभूम सेटलमेण्ट रिपोर्ट का दसवाँ अध्याय और बड़ाभूम सेटलमेण्ट रिपोर्ट, पृ० 18-20। यहाँ प्रस्तुत विवरण इन्हीं रिपोर्टों पर आधारित है।)

बड़ाभूम और धालभूम में घटवालों की तीन श्रेणियाँ थीं। सबसे ऊंची श्रेणी **तरफ सरदार** की थी। दूसरी श्रेणी बड़ाभूम में **सरदियाल** और धालभूम में **नाइक** की थी। यह दूसरी श्रेणी हर जगह नहीं थी। कहीं-कहीं पर थी। तीसरी श्रेणी गाँव के स्तर पर **घटवाल** की थी। खूंटकट्टी व्यवस्था की ही तरह जंगल साफ करके जमीन आबाद करनेवालों के उत्तराधिकारी खूंटकट्टीदारों के समुदाय को यहाँ धालभूम में **पाइक** और बड़ाभूम में **तावेदार** कहते थे और गाँव के मुखिया को **घटवाल** या **नाइक** कहते थे। गाँव के लोग अपना चंदा (पंचक) जमा करके नाइक या घटवाल को देते थे और नाइक या घटवाल इस निश्चित रकम को तरफ सरदार को पहुंचा देते थे। तरफ सरदार ऊपर के मालिक (राजा या जमींदार) को वह चंदा दे देता था। गाँव की परजा या रैयत, जो मूल बाशिंदों के उत्तराधिकारी नहीं थे, अपना लगान मूल बाशिंदों के उत्तराधिकारियों पाइक या तावेदारों को देते थे। 19वीं सदी में इन इलाकों में बड़े पैमाने पर जंगल साफ करके खेत बनने से घटवाली गांवों से होनेवाली आमदनी जमींदारों के लिए आकर्षक हो गई। यहीं से तैयार की गई नई जमीन के लगान को लेकर जमींदारों और घटवाली व्यवस्था वाले ग्रामीण-समुदायों के बीच लंबा संघर्ष शुरू हुआ। जमींदारों की प्रवृत्ति घटवाली पद को सिर्फ घटवाल के काम के बदले में दिया गया पद बनाकर, उस पद की सीमा को कम करके और घटवाली जमीन पर लगान बढ़ाने की होती थी। बड़ाभूम में घटवालों के चन्दे की रकम को मनमाने ढंग से दुगना कर देने और उनके ऊपर मकान-टैक्स थोप देने का नतीजा 1833 के भूमिज विद्रोह के रूप में निकला। जमींदारों और घटवालों के बीच विवाद 1883 तक अपनी ऊँचाई पर पहुंच गया, तब सरकार ने उनके बीच एक समझौता कराया जिसके मुताबिक घटवालों को नए तैयार होने वाले खेतों को घटवाली सामुदायिक सम्पत्ति में शामिल करने के अपने दावे को छोड़ना पड़ा। तय हुआ कि इन नए खेतों का लगान जमींदार को मिलेगा जिसमें से रुपए में दस आना जमींदार लेगा, बाकी छः आना घटवाल कमीशन के रूप में अपने पास रख लेगा। इसी के बाद बड़ाभूम और धालभूम में घटवाली पद के अधिकारों की सीमा रेखा खींची

* 1821 में अंगरेजों के साथ युद्ध में पराजित होने के बाद कोल्हान के हो लोगों को अंगरेजों से एक संधि करनी पड़ी थी जिसकी एक शर्त यह भी थी कि मानकी और मुण्डा को जंगल से गुजरनेवाले रास्तों की निगरानी करनी होगी ताकि अंगरेजों की गाड़ियां सुरक्षित जा सकें। यह संधि व्यवहार में सफल नहीं हो सकी। अगर यह संधि सफल हो गई होती तो मुमकिन है कि घटवालों की तरह हो जाति के मुण्डा-मानकियों के बारे में भी आज यही समझा जाता कि जंगल के रास्तों की निगरानी के काम के बदले में ही सरकार ने मुण्डा और मानकियों को नियुक्त किया था।

—अनुवादक की टिप्पणी

गई, यह मानते हुए कि उनकी तीनों श्रेणियों के पद उन्हें घाटों पर निगरानी रखने के काम के बदले में मिले हैं। और, गाँव के बाकी लोगों के लगान को बढ़ाने का जमींदार का अधिकार मान लिया गया। ये बाकी लोग नाइक और घटवाल के रिश्तेदार तथा मूल बाशिंदों के उत्तराधिकारी थे। खूंटकट्टी व्यवस्था के मुकाबले घटवाली व्यवस्था में ऊँचे-नीचे पदोंवाले अधिकार ज्यादा बढ़ गए।

कई जगहों पर, बिना बाहरी हस्तक्षेप के, आंतरिक रूप से भी घटवाली व्यवस्था का विकास (या परिवर्तन) जोत पर कब्जे की व्यवस्था के रूप में हो गया जिसमें तरफ सरदार, सदियाल और घटवाल अपने-अपने इलाके के मालिक जैसे बन गए। अब परजा का लगान उन्हें दिया जाने लगा और खूंटकट्टी व्यवस्था की तरह इसे गांव पर संयुक्त अधिकार रखनेवाले मूल समुदाय के वंशजों के बीच समान रूप से बांटना बंद हो गया। लेकिन फिर भी ताबेदार लगान नहीं, सिर्फ चन्दे के रूप में एक निश्चित रकम ही देते रहे। हजारीबाग में भूंइयाँ घटवाल 1830 तक अपनी-अपनी गद्दी के मालिक बन चुके थे और सरकार ने उनके पद को अहस्तांतरणीय बना दिया था। इसके बावजूद, इस तरह जो निजी सम्पत्ति विकसित हुई, उसमें भी पुरानी परंपराओं के निशान जबर्दस्त ढंग से बचे रहे। सिफटन ने बड़ाभूम के घटवालों के बारे में लिखा है : "तरफदारों को एक जमींदार की तरह घटवालों के साथ शर्त तय करने का अधिकार नहीं था।" और "आदिवासी भूमि-व्यवस्था की परंपरा के मुताबिक गाँव के खूँटकट्टीदारों से चन्दे के अलावा कोई लगान (जिसे बढ़ाया जा सकता हो) लेने का तरफ सरदारों को वैसे ही कोई अधिकार नहीं था जैसे जमींदारों को तरफदारों से चन्दा छोड़कर लगान लेने का कोई अधिकार नहीं था।" (बड़ाभूम सेटलमेण्ट रिपोर्ट, पृ०-20)

भूँइहारी व्यवस्था

रांची जिले के गांवों में एक और व्यवस्था—भूंइहारी व्यवस्था—चलती थी जिसे जमींदारों ने काफी बदल दिया था। यह व्यवस्था सिर्फ राँची जिले में, इसके 2482 गाँवों में पाई गई। बुनियादी तौर पर इस व्यवस्था में गांव की भूमि तीन हिस्सों में बंटी होती थी—भूंइहारी, राजहस और मंझिहस। भूँइहारी जमीन वह जमीन थी जिसे जंगल साफ करके गाँव आबाद करनेवाले बाशिंदों ने तैयार किया था और जिस पर उनके पुरुष उत्तराधिकारियों का हक होता था। वे इस पर अक्सर कोई लगान नहीं देते थे, अथवा नाम मात्र की निश्चित रकम देते थे और साथ में कई किस्म की बेगार देते थे अथवा कोई रकम नहीं, सिर्फ बेगार देते थे। राजहस जमीन वह जमीन थी जिसके भाड़े के रूप में जमींदार को लगान दिया जाता था। मंझिहस जमीन सीधे जमींदार के कब्जेवाली जमीन होती जिसपर जमींदार अपनी खेती कराता था।

भूंइहारी जमीन में कुछ और किस्म की जमीनें भी शामिल थीं जो गाँव के देवी–देवताओं की पूजा से संबंधित थीं जैसे पहनई, डालीकटारी, भूतखेटा इत्यादि। इन जमीनों पर भी लगान नहीं लगता था। मंझिहस जमीन से जुड़ी एक खास जोत **बेठखेता** थी। इस पर लगान नहीं लगता था पर यह जिसके दखल में होती थी उसे मंझिहस जमीन पर श्रम करना पड़ता था। भूंइहारों के लंबे संघर्ष के बाद 1869 में एक खास कानून बनाया गया (छोटा-नागपुर टीनेंसी एक्ट, 1869) जिसके मातहत भूँइहारी जमीन और उससे जुड़ी दूसरी जमीनों तथा मंझिहस और बेठखेता जोतों की नापी गई, उनके निशान लगाए गए और इन सबको एक खास भूंइहारी रजिस्टर में दर्ज किया गया। स्पेशल कमिश्नर द्वारा किए गए इस सर्वे में राँची के दूसरे हिस्सों को, जहां भूंइहारी जमीन नहीं थी या जिन्हें इस नाम से नहीं जाना जाता था, दर्ज नहीं किया गया। इस तरह भूंइहारी सर्वे में रांची जिले के पंचपरगना इलाके को बरवे परगना तथा बीरू परगना को शामिल नहीं किया गया। सर्वे 1880 ई० में पूरा हुआ और कुल 2482 गाँवों में भूंइहारी जमीन की नापी हुई।

यह कहा जाता है कि भूंइहारी व्यवस्था असल में प्राचीन खूँटकट्टी व्यवस्था का ही बचा हुआ रूप था। लेकिन, इसमें कोई शक नहीं कि इसमें बदलाव अंगरेजों के आने से पहले ही हो चुका था वेबस्टर ने किसी गाँव के एक लगान-खाते का जिक्र किया है जो 1720 ई० का है और इसमें गाँव की जमीन को भूंइहारी और राजहस जमीन के रूप में दिखलाया गया है। (स्टैटिस्टिकल एकाउंट ऑफ बंगाल, खण्ड XVI, पृ० 385) 19वीं

सदी के आखिरी दशकों में तमाड़ थाने के अन्दर भी कुछ राजहस जमीन बनने की पुरानी प्रक्रिया चली थी जिससे इस तरह की जमीनें बनाने की पुरानी प्रक्रिया का कुछ अंदाज मिलता है। तमाड़ के इन खूँटकट्टी गाँवों में जमींदार ने कोशिश कर के खूँटकट्टीदारों और उनकी परजा के बीच का सम्बन्ध तोड़ दिया था और परजा की जमीन को ही राजहस जमीन में बदलकर उनसे सीधे लगान वसूलना शुरू किया था। (ई० लिस्टर तथा एफ० ए० स्लैक द्वारा लिखित रिपोर्ट ऑन दी ग्रीवांसेज ऑफ मूँडारीज इन अदर दैन इंटैक्ट खूटकट्टी विलेजेज; सेलेक्शन, फ्रॉम राँची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 68। साथ ही, शरतचन्द्र राय, मुण्डाज एण्ड देयर कंट्री, पृ० 94)

जमींदारों की ओर से लगातार यह अभियान चलाया गया था कि भूंइहारी जमीन तो "विशेष रियासत" के रूप में अथवा जमींदार को अपनी कुछ सेवाएँ अर्पित करने के एवज में दी गई जमीन है। उदाहरण के लिए 1859 में छोटानागपुर के महाराजा ने अंगरेज सरकार को दी गई एक याचिका में दावा किया था कि भूंईहारी जमीन वह जमीन है जो छोटानागपुर के महाराजा और उनके पूर्वजों ने "सनद के तौर पर कुछ कोल परिवारों को मामूली लगान पर इस शर्त्त के साथ दी थी कि बदले में वे जरूरत पड़ने पर बेगार दिया करेंगे।" (महाराजा जगन्नाथ प्रताप शाहदेव द्वारा 22 मार्च, 1859 को दी गई याचिका, गवर्मेण्ट आफ बंगाल, जूडीशियल, 259, मई, 1859. आर० डी० हालदार ने भी लिखा कि जमींदार भूंईहारी जमीन के साथ ऐसा बर्ताव करते थे मानो वह एक ऐसी कोड़कर जमीन हो जो किसी भी रैयत को, चाहे वह भूंइहारी हो या नहीं, रियायती लगान पर दोन में बदलने के लिए दी गई थी। दिसम्बर, 1880, रिजोल्यूशन ऑफ बंगाल गवर्मेण्ट के एपेन्डिक्स में हालदार का एन एकाउण्ट ऑफ दि विलेज सिस्टम ऑफ छोटानागपुर।) जमींदारों का ऐसा दृष्टिकोण उनके इस दावे के मुताबिक ही था कि उन्हें पूरे गाँव पर मालिकाना हक है। लेकिन, जैसा कि हालदार ने बताया और लिस्टर तथा स्लैक, दोनों ने बाद में उसका समर्थन किया कि जमींदारों का यह सिद्धांत मनगढ़ंत था और उससे भूंइहारी व्यवस्था के मूल उद्गम और उसके विकास की व्याख्या नहीं होती थी। हालदार ने साफ लिखा है कि खूँटकट्टी की ही तरह भूंइहारी अधिकार भी किसी प्रभुसत्ता सम्पन्न मालिक से नहीं मिले थे (वही)। हालदार का यह कथन इस तथ्य का सबसे प्राचीन प्रमाण है कि "सम्पत्ति का पूरा अधिकार" जमींदारों या उनके उत्तराधिकारियों में निहित नहीं था।

भूंइहारी गांवों में भूंइहारों के आमतौर पर दो खूँट होते थे—मुण्डाखूँट और पाहन खूँट। इनमें-से कई गांवों में एक तीसरा—महतो खूँट—भी मिला। भूँइहारी गांवों में महतो पद का सबसे पुराना उल्लेख 1839 में भूँइहारी व्यवस्था पर डॉ० डेविड्सन (गवर्नर जनरल के प्रधान सहायक) की लिखी रिपोर्ट में मिलता है। खूँटकट्टी गांवों में पाए जाने वाले मुण्डा और पाहन के अलावा भूँइहारी गांव में पाया गया यह अतिरिक्त महतो पद, लिस्टर के मुताबिक, जमीन्दारों की देन था। (राँची सेटलमेण्ट पेपर्स पृ० 99) 1839 की रिपोर्ट में महतो के बारे में कहा गया है कि वह "गांव का सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति" है जो रैयत के साथ जमीन का बन्दोबस्त करता और बन्दोबस्त की मंजूरी के तौर पर गोटो (मिट्टी का टुकड़ा) देता है। वह मालिक के लिये रैयत से लगान वसूलता, लगान सम्बन्धी झगड़ों को निपटाता और "संक्षेप में, वह एक ऐसा व्यक्ति है जिस पर गांव के रुपए-पैसे वाले सारे मामले निपटाने की जिम्मेदारी होती है।" (डिग्री की रिपोर्ट में उद्धृत, पृ० 38) बदले में उसे दो से चार एकड तक दोन जमीन जागीर के रूप में मिलती थी अथवा प्रति रैयत एक से डेढ़ पैसे तक पारिश्रमिक मिलता था। उसका पद वंशगत नहीं था, जमींदार अपनी मर्जी से उसकी नियुक्ति करता था। लेकिन महतो हमेशा कोई भूँइहार ही होता था, सही ढंग से कहा जाए तो महतो खूँट का।

इस तरह महतो का पद जमींदारों द्वारा पैदा गया पद था जो परम्परागत मुण्डा और नए ठीकेदारों के बीच की एक मिलीजुली चीज लगती है। मुण्डा की तरह वह गांव के मूल बाशिंदों के बीच से चुना जाता था, पर फिर भी उसका पद वंशानुगत नहीं होता था। परम्परागत मुण्डा के मुकाबले में महतो का पद खड़ा करने के पीछे कारण क्या

था, इसकी व्याख्या करते हुए लिस्टर ने लिखा है : "जमींदार जब इतना शक्तिशाली नहीं होता था कि वह गांव से भूँइहारों का नियंत्रण खत्म कर सके, तो वह उनकी एकता को तोड़ने के लिए चालाकी से काम लेता था। इसी सिलसिले में मुण्डा और पाहन के मुकाबले अपनी ताकत बढ़ाने के लिए उसने महतो को खड़ा किया जो अपने पद को बनाये रखने के लिए पूरी तरह जमींदार पर निर्भर था और इसीलिए गांव के सारे मामलों को जमीन्दार के हित की दृष्टि से निपटाता था।" (रांची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 99

लेकिन, 19वीं सदी के खत्म होते-होते महतो का पद भी नाम मात्र का ही रह गया, अब जमीन्दार सीधे या अपने एजेन्ट के जरिए लगान तय करने और बेदखली करने का काम करने लगा। पुरानी खूँटकट्टी व्यवस्था से भूँइहारी व्यवस्था को अलगाने वाली बातों में एक बात मंझिहस जमीन की व्यवस्था थी जो जमीन्दार की अपनी खेती की जमीन होती थी। यह शब्द मांझी उनांग (मांझी काहिस्सा) का बदला हुआ रूप है। इस शब्द (मंझिहस का प्रचलन कैसे हुआ, पता नहीं चलता। राजहस और मंझिहस शब्दों की व्युत्पत्ति के फर्क की दृष्टि से देखें तो मंझिहस जमीन गांव के मांझी (मुखिया) के लिए अलग से दी गई जमीन लगती है। लेकिन मुँडारी खूँटकट्टी गांवों में गांव के मुखिया—मुण्डा—को अलग से कोई जमीन नहीं मिलती थी। * ऐसा लगता है कि यह शब्द और प्रथा दोनों उस इलाके से आए थे जहाँ यह प्रथा चलती होगी। शायद शुरू में जमींदार अपने एजेंट को गाँव का मुखिया (मांझी) बनाकर बैठाता होगा और उसके काम के बदले में जो जमीन मिलती होगी, वह मंझिहस कहलाती होगी। लेकिन बाद में मंझिहस जमीन वैसे गाँवों में भी पाई गई जहाँ जमींदार का कोई एजेंट नहीं था। राँची जिले के उत्तर-पूर्वी भाग में आमतौर पर छोटे रकबे—करीब पाँच एकड़ वाली—मंझिहस जमीनें मिलीं जिनपर जमींदार के मैनेजर या एजेण्ट का कब्जा रहता था। लेकिन राँची जिले के दक्षिणी भाग में पाई गई मंझिहस जमीनें काफी बड़ी होती थीं जिस पर खुद स्थानीय जागीरदार या उससे अनुदान पानेवालों का कब्जा होता था।

मंझिहस जमीन पर अगर कोई दूसरा खेती करता तो उसे इस पर कब्जे का हक नहीं मिलता था। वे सभी किसान जो इस पर खेती करते, सिर्फ गैर-दखीलकार रैयत होते और उन्हें उपज का बड़ा हिस्सा लगान में देना पड़ता, जिसे **साइका** कहा जाता था। लेकिन बेगार मिलते रहने की वजह से जमींदार खुद या अपने एजेंट के जरिए इस पर खेती कराता था।

भूँइहारी व्यवस्था का मूल

भूँइहारी व्यवस्था की कई विशेषताएँ पुरानी खूँटकट्टी व्यवस्था के साथ उसकी समानता को दिखलाती हैं। इनमें से सबसे मुख्य विशेषता गाँव को आबाद करने वाले मूल बाशिंदों के उत्तराधिकारियों की मौजूदगी थी। खूँटकट्टी गाँवों की तरह ये भूँइहारी गाँव अपने-अपने **पड़हा** में संगठित थे। मानकी पट्टी की तरह ये पड़हा सिर्फ कुछ गाँवों के समूह-मात्र नहीं होते थे बल्कि बुनियादी तौर पर ये एक सामाजिक संगठन का रूप होते थे। इस संगठन की विशेषता यह थी कि किसी भी पड़हा में एक ही गोत्र वाले आठ-दस गाँवों के भूँइहार शामिल होते थे। मानकीपट्टी के खूँटकट्टी गाँव वाले इलाके में यह विशेषता नहीं मिलती। वहाँ एक पट्टी (समूह) के अंदर अलग-अलग गोत्र वाले गाँव थे। इससे पता चलता है कि पड़हा संगठन आदिवासी गाँवों के बनने का पुराना आदर्श रूप था जिसमें कोई एक गोत्र आपस में सटे कई गांवों में अपना क्षेत्र कायम करता था और इन सबके बीच एक मूल गांव होता था जो उस गोत्र का मुख्यालय जैसा होता था जहाँ से वे आस-पास के दूसरे गांवों में फैलते गए। लेकिन मानकीपट्टी की तरह भूँइहारी पड़हा की आर्थिक भूमिका—लगान या चन्दा जमा करके ऊपर पहुंचाना—

* डॉ० डेविड्सन के मुताबिक आम भूँइहारी गाँवों में मुण्डा के पास भी सिर्फ वैसी ही भूँइहारी जमीन होती थी जैसी गाँव के दूसरे भूँइहारों के पास होती थी। लेकिन, हालदार ने पाया कि जहाँ जमींदार पूरे गांव को अपने अधीन करने में सफल हो गया, वह मुण्डा का पद जमींदार को अपनी सेवाएँ देने के बदले में मिला पद बन गया था और उसी के साथ, **महतोई** जमीन की तरह **मुण्डई** जमीन भी जुड़ गई थी।

नहीं होती थी। पड़हा का मुखिया पड़हा राजा कहलाता था और वह उस पूरे गोत्र का मुखिया होता था और गोत्र की सभा बुलाकर गोत्र के अंदर की समस्याओं जैसे कोई नियम या प्रथा तोड़ने के अपराध जैसे मामलों को निपटाता था।

मूल बाशिंदों के उत्तराधिकारियों की मौजूदगी के अलावा पुरानी खूँटकट्टी व्यवस्था के साथ भूंइहारी व्यवस्था की दूसरी बड़ी समानता यह थी कि खूँटकट्टी गांव की ही तरह हर भूंइहारी गांव का अपना ससान था। (मुंडाज एण्ड देयर कंट्री, पृ० 238 और इन्साइक्लोपीडिया मुंडारिका, पृ० 515) यह विशेषता उराँव और मुण्डा, दोनों के भूंइहारी गाँवों में मिलती थी। इस प्रथा के कारण भूंइहारी गाँवों में भी बिना पुरुष उत्तराधिकारी वाले भूंइहार की जमीन को उसी के खूँट के दूसरे सदस्यों को या गाँव के मुण्डा की देख-रेख में सौंप देने की प्रथा चलती थी। लेकिन इस प्रथा में जमींदार ने काफी हद तक दखलअंदाजी की थी। कई गाँवों में किसी भूंइहार के गाँव छोड़कर चले जाने पर या किसी कारणवश खाली हो गई जमीन पर जमीन्दारों ने कब्जा जमा लिया था। 1839 में डेविड्सन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि जमीन्दारों ने ऐसी खाली हो गई जमीनों को अपनी मंझिहस जमीन में मिलाना शुरू कर दिया था हलाँकि गाँव की प्रचलित प्रथा के मुताबिक ऐसी जमीन उस भूंइहार के लौट आने या उसके वारिसों के लौट आने पर उन्हें सौंप देने की थी। (डेंप्रीज रिपोर्ट, पैरा 36) 1871 में भूंइहारी सर्वे करते समय हालदार ने नोट किया कि "किसी भूँइहार के गाँव छोड़कर जाने से खाली हो गई जमीन को उसके वापस लौटने पर उसे फिर से सौंप देने की प्रथा को जमीन्दार अपवाद मानकर चलने लगे थे, प्रथा मानकर नहीं।" (बंगाल गवर्मेण्ट रिजोल्यूशन ऑफ 1880 ऑन दी फाइनल रिपोर्ट ऑफ दी ऑपरेशन अण्डर दी छोटानागपुर टेन्यूर एक्ट II ऑफ 1869, पैराग्राफ 16, पैरा 8, पृ० 51, 58, 59; रांची सेटलमेण्ट पेपर्स, नं इंक्लोजर 13) भूंइहारी जमीन को हर हालत में गांव और खूँट के अन्दर ही रखने की इस प्राचीन प्रथा को जमीन्दारों ने कानूनी मान्यता देने से इन्कार किया तो भूंइहारों में असंतोष पैदा हो गया। (वही, पैरा 25, और भी देखिए छोटानागपुर के कमिश्नर को राँची के डिप्टी कमिश्नर ए० बी० पॉवर का लिखा पत्र, पत्र सं० 298--आई०, ताः 18 जून, 1880; स्रोत वही) कुछ गांवों में भूंइहारी जमीन पर पूरे खूँट का संयुक्त अधिकार था और किसी भी सदस्य की अपनी मर्जी से नहीं बल्कि पूरे खूँट के सामूहिक फैसले से ही उस जमीन को हस्तांतरित किया जा सकता था। (हालदार) जहाँ भूँइहारी व्यवस्था और भूँइहारों की स्थिति मजबूत थी, वहां जमीन्दार द्वारा अनुपस्थित भूँइहार की जमीन पर कब्जा करने की प्रवृत्ति कामयाब नहीं हो पाती थी। लेकिन 1880 ई० तक अधिकांश गांवों में खाली हो गई भूँइहारी जमीन को राजहस या मंझिहस जमीन में मिला लेने, भूंइहारों के बीच आपस में जमीन सौंपने की प्रथा को रोक देने और यहां तक कि भूँइहारों को अपनी जमीन बेचने या बंधक रखने से भी रोक देने का जमीन्दारों की रवैया आम बात हो गई थी।

1880 तक आकर हम देखते हैं कि खूँटकट्टी या प्रधानी व्यवस्थावाले गांवों के मुकाबले भूंइहारी गांवों के अन्दरूनी मामलों में जमींदारों की दखलअन्दाजी कहीं ज्यादा थी। एक तो राजहस जमीन के रूप में जमींदारों ने गांव की जमीन के एक बड़े हिस्से का लगान अपनी मर्जी से तय करने का अधिकार कायम कर लिया था। दूसरे, मँझिहस जनीन के रूप में जमींदार ने गाँव की जमीन के एक हिस्से पर गाँव के पुराने बाशिंदों (वे भूंइहार हों या रैयत) के परम्परागत कब्जे के अधिकार को हड़प लिया था। तीसरे, ऐसा लगता है कि गैर-आबाद जमीन और जंगल पर भी भूंइहारों के परम्परागत अधिकारों में कटौती हो गई थी। इनके अलावा, खूँटकट्टी या प्रधानी व्यवस्था के मुकाबले इन गाँवों में जमींदार कहीं ज्यादा शक्तिशाली था। भूंइहारी सर्वे के दौरान जमींदारों ने जंगल और पहाड़ों तक पर भूंइहारों के दावे को बिलकुल ठुकरा दिया था। (हालदार, राँची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ०56)

फिर भी, कानून की मदद होने के बावजूद, इस बात में शक है कि जमींदार इन गांवों पर अपनी सत्ता पूरी तरह जमाने में कामयाब रहे। भूंइहारी गांवों में परम्परागत

सामूहिक अधिकारों की भावना कितनी प्रबल थी, इसका सबूत 19 वीं सदी के आखिरी दशकों में हुए लगातार आंदोलनों से मिलता है। जमींदारों और भूंइहारों के बीच चले संघर्ष की कहानी को हम आगे चलकर चर्चा करेंगे। यहाँ हम भूंइहारी जमीन कहाँ तक थी, इस बारे में भूंइहारों की परम्परागत धारणा की दृढ़ता को देखेंगे। डाल्टन ने लिखा है कि इसाइयों के नेतृत्व में भूँइहारों ने हर गाँव में गाँव की आधी जमीन को अपनी जमीन बतलाया। (रेवेन्यू विभाग के सेक्रेटरी एच० सी० डैम्पियर को डाल्टन का पत्र, 30 सितम्बर, 1868, रेव० एल० आर० 50, नवम्बर, 1868) 1887 की सर्दियों में डिप्टी कमिश्नर ओलिफेण्ट ने तालागुड़ी गाँव में भूँइहारों और जमींदारों के बीच विवाद की जाँच-पड़ताल करवाई जिसकी रिपोर्ट में कहा गया कि भूँइहार हर गाँव की आधी जमीन अपनी बतलाते हैं और इस पर कोई समझौता नहीं करना चाहते (वही)। डाल्टन ने भी लिखा कि भूंइहारों ने दावा किया है कि उन्होंने कलकत्ते के एक वकिल जी० एम० टैगोर द्वारा "देश की आधी जमीन" की डिग्री पा ली है। (फाइनल कम्पैलशन रिपोर्ट ऑफ ऑपरेशन्स अडर छोटानागपुर टेन्यूर एक्ट, 1880, पर सरकारी प्रस्ताव में उद्धृत, राँची सेटलमेण्ट पेपर्स) भूंइहारी सर्वे के दौरान हालदार के सामने भी ऐसे दावे पेश किए गए कि गाँव की जमीन भूंइहारों की है। (एन एकाउन्ट ऑफ विलेज सिस्टम ऑफ छोटानागपुर)।

भुंइहारी जमीन संबंधी इस परंपरागत धारणा का मूल उद्गम आदिवासियों के इस दावे में था कि अतीत में कभी गाँव के बाशिंदों ने अपनी मर्जी से आधी जमीन महाराजा के अपने रख-रखाव के लिए छोड़ दी थी और आधी जमीन अपने पास रखी (वही)। एक लोकप्रिय कहावत **आधा काम, आधा दाम** से भी इस धारणा का समर्थन होता था जिसके मुताबिक अपने कब्जे वाली आधी जमीन पर कब्जे के बदले में सिर्फ कुछ बेगार देनी पड़ती थी और बाकी आधी जमीन (राजा के कब्जेवाली) के लिए रकम में लगान देना पड़ता था। इस धारणा का जन्म चाहे जहाँ से हुआ हो, यह तय है कि परंपरागत धारणा यही थी कि गांव की जमीन दो बराबर हिस्सों में बंटी हुई थी—एक हिस्से पर लगान लगता था, दूसरा हिस्सा लगान-मुक्त था। पहलेवाला हिस्सा राजा का था, दूसरा हिस्सा भूंइहारों का।

लेकिन, इस धारणा का मेल हकीकत से नहीं बैठता। हालदार ने ऐसे गाँव देखे थे जहाँ भूंइहारी जमीन आधे से भी ज्यादा हिस्से पर थी। जैसे, बाड़ागाँव में खेती की कुल जमीन 1420 एकड़ थी जिसमें से भूंइहारी जमीन 1050 एकड़ (74.4%) थी। लालगज गांव में खेती की कुल जमीन 858 एकड़ थी जिसमें से 660 एकड़ (76.9%) जमीन भूंइहारी थी। नगड़ी गाँव में खेती की कुल जमीन 1320 एकड़ थी जिसमें से भूँइहारी जमीन 990 एकड़ (75%) थी (वही)। शरतचन्द्र राय ने लिखा है कि भूंइहारी कमीशन की जाँच-पड़ताल के दौरान सीरी परगना के कई गाँव में और खूँटी के निकट पोसेया तथा बुरजू गाँव में मंझिहस या राजहस जमीन एक एकड़ भी नहीं मिली; अधिकांश जमीन भूँइहारों के कब्जे में थी। (मुंडाज एड देयर कंट्री, पृ० 95-96) इन गाँवों के उल्टे ऐसे गाँव भी मिले जहाँ पहनई जमीन सिर्फ कुछ बीघे-भर थी। हालदार ने लिखा : "मोटामोटी यह बात कही जा सकती है कि राजहस के मुकाबले भूंइहारी जमीन का अनुपात बहुत बदलता हुआ मिलता है। यह कुल खेती की जमीन के सौंवे हिस्से से लेकर कुल जमीन के तीस-चौथाई हिस्से तक भी मिलता है। (एन एकाउन्ट ऑफ विलेज सिस्टम ऑफ छोटानागपुर) एक भूंइहारी गाँव के सबसे प्रचीन—1720 ई० के लगान-खाते में वेबस्टर ने पाया कि राजहस से भूंइहारी का अनुपात 5:1 का था। (स्टैटिस्टिकल एकाउन्ट ऑफ बंगाल, खण्ड XVII पृ० 385) यानी पांच भाग राजहस जमीन थी तो एक भाग भूंइहारी जमीन। इस तरह हम देखते हैं कि महाराजा को अपने रख-रखाव के लिए आधी जमीन दे देने की धारणा एक वैसी ही भ्रामक धारणा थी जैसे फणी मुकुट राय को अपना राजा चुन लेने या और भी बहुत-से दूसरे राजाओं को चुन लेने जैसी दंत कथाएं भ्रामक धारणाएं है।

खेती की कुल जमीन के मुकाबले भूंइहारी जमीन का अनुपात असल में जमींदार की दखलअंदाजी के खिलाफ भूंइहारों की प्रतिरोध-क्षमता पर निर्भर करता था। इसमें कोई शक नहीं कि जिन इलाकों में भूंइहार मजबूत थे—यानी गोत्र के हिसाब से बसे होने के कारण संख्या में अधिक थे और वंश-परंपरा की दृष्टि से भी प्राचीन निवासी थे, वहां-वहां जमींदारों की दखलअंदाजी के खिलाफ होनेवाला प्रतिरोध भी ज्यादा तगड़ा था। भूंइहारों की जब जैसी ताकत रही, उसी हिसाब से उन्होंने भूंइहारी जमीन का

किया। जब आगे चलकर भूंइहारी आन्दोलन ऊंचे स्तर पर पहुंची, तो उन्होंने आधी जमीन के बदले पूरी जमीन पर भूंइहारों का दावा जताया।

इसी तरह, दोनों तरह की जमीन के अनुपात में फर्क भूंइहारों के लगान और बेगार की मात्रा की दृष्टि से समझा जा सकता है। आम तौर पर इस जमीन पर लगान नहीं लगता था, पर कुछ बेगार देनी पड़ती थी। आम तौर पर खेती के दौरान कुल 14 या 15 दिनों तक बेगार देनी पड़ती थी। हाल्दार के मुताबिक तीन दिन हल चलाने में, तीन दिन खुदाई में, तीन दिन बुनाई या रोपनी में, तीन दिन कटाई में, एक दिन दौनी में, एक दिन ओसौनी में बेगार देनी पड़ती थी। इसके अलावा, यात्रा के समय जमींदार की पालकी ढोने, बांस और सौ बोझा घास पहुंचाने का काम करना पड़ता था। (राँची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 58) लेकिन कई गांवों में, खास कर जिले के उत्तर-पूर्वी गाँवों में, भूंइहारी सर्वे से पहले ही, बेगार को नगद लगान में बदल दिया गया था। कई गांवों में लगान और बेगार, दोनों मिले-जुले रूप में चल रहा था। अलग-अलग गाँवों में लगान और बेगार की मात्रा में भी फर्क था। मिसाल के लिए गुटूहातु गांव में कोई मंभिहस जमीन नहीं थी, 25 एकड़ भुंइहारी दोन और 57 एकड़ भुंइहारी टाँड़ पर कुल मिलाकर 9 रु० लगान था। पास के हुटुप गाँव में, जहाँ 27 एकड़ मँभिहस जमीन भी थी, 35 एकड़ भूंइहारी दोन और 18 एकड़ भुंइहारी टाँड़ पर कुल 22 रु० लगान था और साथ में 22 दिनों की बेगार ली जाती थी। (सोनपुर परगना का भुंइहारी रजिस्टर, खण्ड II, ग्राम सं० 116 और 126, राँची डिस्ट्रिक्ट रेकर्ड रूम) लगान और बेगार की मात्रा में इस तरह के फर्क की सबसे पहली वजह जमींदार की मनमर्जी के खिलाफ भुंइहारों के विरोध की ताकत में फर्क था।

बेगार के बारे में एक अजीब-सा तथ्य यह है कि हलाँकि 1869 के छोटानागपुर टीनेंसी एक्ट के मातहत किसानों को अपनी श्रम सेवाओं (बेगार) को, चाहें तो, नगद लगान में बदलवाने की सुविधा दे दी गई थी, फिर भी किसानों ने इसके लिए बहुत कम आवेदन दिए। किसानों ने जितने दावे जमीन के लिए किए बेगार को नगद लगान में बदलने के लिए उतने दावे नहीं किए। जैसे, भूंइहारी और मभिहस जमीन पर अपना दावा जताने के लिए किसानों ने भूंइहारी कमीशन को 13,763 आवेदन-पत्र दिए जबकि बेगार को नगद लगान में बदलने के लिए सिर्फ 1167 आवेदन पत्र दाखिल किए। (राँची सेटलमेन्ट पेपर्स, पृ० 64 65) भूंइहारी सर्वे से ठीक पहले बेठ बेगारी के खिलाफ चल रहे व्यापक आंदोलन को देखते हुए यह सचमुच आश्चर्यजनक लगता है। इसकी पूरी व्याख्या सरकारी अफसरों के इस दावे से नहीं होती कि भूंइहार लोग नगद लगान के बजाय बेगार देना ज्यादा पसन्द करते थे अथवा बेठ-बेगार के खिलाफ शिकायतें बढ़ा-चढ़ाकर की गई थी। (राँची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 72) इसकी पूरी व्याख्या तभी हो सकती है जब जमीन्दारों के खिलाफ भूंइहारों के संघर्ष को भी ध्यान में रखा जाए। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, भूंइहारी सर्वे के दौरान स्थानीय ईसाई आदिवासी भूंइहारों का आंदोलन आर्थिक मांगों से आगे बढ़कर एक वैकल्पिक राजनीतिक सत्ता की मांग तक पहुंच गया था जो बेठ-बेगारी की बुनियाद को ही—जमीन्दारों के भूमि-स्वामित्व को—चुनौती दे रहा था। इसलिए यह स्वाभाविक है कि उन्होंने बेठ बेगारी के दिन बढ़ाने या घटाने अथवा उसे नगद लगान में बदलने जैसे गौण मुद्दे पर सौदेबाजी करने से इनकार कर दिया। वे जमीन्दारों के भू-स्वामित्व के अधिकार को ही नाजायज मान रहे थे। यही कारण है कि भूँइहारो ने, खासकर ईसाई भूंइहारों ने किसी भी किस्म की बेठ बेगारी को देना बंद कर दिया था। बेठ बेगारी और जमीन्दारी भू-स्वामित्व को नाजायज मानने के बाद वेठ बेगारी को नगद लगान में बदलने के लिए अर्जी देने का कोई मतलब नहीं था।

भूँइहारी सर्वे से खेतिहर समस्याओं का हल नहीं निकला। इसकी असफलता का नतीजा यह निकला कि जमीन्दारों और भूँइहारों, दोनों ने अपने-अपने दावों को और भी बुलन्द करना शुरू किया। पर, यह एक दूसरी कहानी है जिस पर हम बाद में आएँगे।

टूटे हुए खूँट कट्टी गाँवों की व्यवस्था

हम देख चुके हैं कि राँची जिले के एक बहुत बड़े हिस्से

को भूंइहारी सर्वे ने अपने कार्यक्षेत्र से बाहर ही छोड़ दिया था। तमाड़ और खूँटी थाने के 459 गांवों में पाया गया कि खूँटकट्टी व्यवस्था टूट गई थी। यहाँ के अधिकांश गांवों में गाँव के मुन्डा एक तरह से गाँव के मालिक बन बैठे थे। यानी उसने गाँव की परजा से लगान लेकर खुद अपने पास रखना शुरू कर दिया था, कुछ मामलों में उसने गांव के खूँटकट्टीदारों के चन्दे की रकम बढ़ा दी थी और कुछ और मामलों में खूँटकट्टीदारों के परम्परागत अधिकारों का उल्लंघन करते हुए गैर-आबाद जमीन और जंगल पर खुद अपना मालिकाना हक कायम कर लिया था। इन सभी गांवों में खूँटकट्टीदारों के हक धीरे धीरे हड़पते हुए मुण्डा खुद ही जमींदार जैसा बन गया था। इन अधिकांश गांवों में खूँटकट्टीदारों की हैसियत भूंइहारों जैसी हो गई थी यानी उनकी पुश्तैनी जमीन अब रियायती लगान पर उन्हें दी गई जोत समझी जाने लगी, हालांकि इसके लिए उन्हें बेगार नहीं देनी होती थी। (इन्साइक्लोपीडिया मुण्डारिका, पृ० 2399-2401)

जिन गाँवों के लोग अपना चन्दा सीधे मानकी को देते थे (चापुटा गांवों में), उन गाँवों में असलियत में मानकी खुद मालिक बन गया था और अक्सर वह इन गांवों में अपनी पसंद के आदमी को गांव का मुण्डा नियुक्त कर देता था जो कई बार उस गांव के खूँट का सदस्य भी नहीं होता (वही)। इस तरह टूटी हुई खूँटकट्टी व्यवस्था वाले इन गांवों में मुण्डा और मानकी खुद छोटे मोटे जमींदार बनकर उभरे। कुछ गांवों में मुण्डा और मानकी ने रैयतों की जमीन को उसी तरह अपनी व्यक्तिगत जमीन में बदल लिया जिस तरह भूँइहारी गांवों में जमींदारों की मंभिहस जमीन थी (वही, साथ में, रांची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 99)

खूँटकट्टी व्यवस्था के टूटने के कुछ और कारण भी थे। इनमें एक मुख्य कारण 19 वीं सदी के अंत में दीवानी अदालतों द्वारा दिए गए फैसले थे। एक दूसरा कारण कुछ गांवों में जमीन्दार द्वारा परम्परागत मुण्डा-मानकी को हटाकर लगान वसूली के लिए अपने अधिकारी को नियुक्त करना था।

शुद्ध जमींदारी गांव

छोटानागपुर में गांव की जमीन पर किसी न किसी हद तक सामूहिक स्वामित्व के अधिकारों का सबूत देनेवाली उपरोक्त सभी आदिवासी ग्रामीण व्यवस्थाओं के विपरीत इतिहास के दौरान कुछ ऐसे गाँव भी दिखाई पड़े जहां शुद्ध जमीन्दारी व्यवस्था चलती थी। इन गांवों में आम तौर पर दो तरह की जमीनें होती थीं— एक, जिसपर आम रैयत लगान देकर खेती करते थे, दूसरे, जमीन्दार की अपनी खेती की जमीन। ऐसे गांवों को जमीन्दारों ने खुद ही बसाया था या जमीन्दार से जंगलवाली जमीन को अनुदान के रूप में पाने वालों ने बसाया था। ये गांव ऐसे थे जहाँ पुराने समुदायिक अधिकार कभी नहीं रहे। या फिर, पुराने बाशिंदों को हटाकर या उनके गांव छोड़कर चले जाने के बाद इन गांवों को फिर से बसाया गया था। गांव की आबाद और गैर-आबाद जमीन तथा जंगल, सभी पर पूरा अधिकार सिर्फ जमीन्दार का होता था या उससे अनुदान पाने वाले का, जो गांव आबाद कराने का जिम्मेदार होता था। इस तरह की जमीन्दारी व्यवस्था वाले ज्यादातर गांव रांची जिले के बानो और कोलेबीरा थाने में पाए गए।

"आम तौर पर **इलाकेदार,** जो छोटानागपुर के महाराजा के मातहत परगने पर प्रत्यक्ष या परोक्ष अधिकार रखता था, किसी जंगल वाली जमीन को किसी धनी-मानी या नजदीकी रिश्तेदार तेली, मुण्डी या राउतिया को एक-मुश्त रकम पर दे देता था और उससे साल में एकबार मामूली लगान लेता था। इस जंगलवाली जमीन को पाने वाला मालिक (जमींदार) जंगल साफ करके खेत तैयार करने का काम चाहे खुद शुरु करे या न करे, उसका मकसद दूसरी जगहों के रैयतों को अपनी ओर खींचकर जंगल को साफ कराने और गाँव आबाद कराने का होता था। कभी-कभी ये रैयत एक ही जाति से मिल जाते थे, लेकिन अक्सर ये कई जातियों खड़िया, गोंड, मुण्डा, उरांव और बिंझिया— से आते थे।" (राँची सेटलमेण्ट पेपर्स, पृ० 87)

ऐसे गांवों में भी रैयतों को हर तरह के परम्परागत अधिकारों से वंचित नहीं रखा जाता था। वास्तव में कुछ परम्परागत अधिकारों के मिलने के कारण ही कई जगहों से रैयत यहाँ आते थे, खास कर राँची जिले के मध्यवर्ती और पश्चिमी परगनों से। इन अधिकारों में सबसे मुख्य नदी-नाले के तट पर दोन खेत बनाने या टांड़ जमीन और गैर-आबाद जमीन को बदल कर दोन खेत तैयार करने का अधिकार था जिस पर शुरू के कुछ सालों तक— तीन से पांच साल तक—लगान नहीं लगता था। इसके बाद गाँव में प्रचलित लगान से आधा लगान देना पड़ता था। ऐसी जमीन को **कोड़कर** कहते थे यानी रैयत ने उसे खुद कुदाली से कोड़ कर तैयार किया था। लेकिन आबादी बढ़ने के साथ-साथ इस अधिकार पर दबाव बढ़ने लगे। जमींदारों द्वारा बसाए गए इन गाँवों में खेती और गैर-आबाद जमीन पर रैयतों के विशेष अधिकार 19वीं सदी के अन्त तक घट कर बहुत कम रह गए थे। लेकिन परम्परागत अधिकारों के घटते जाने की यह प्रक्रिया तो सारे छोटानागपुर में आम तौर से चल रही थी। (डॉ० ए० नॉट्रेट का राँची के सेटलमेण्ट ऑफिसर को पत्र, 13 फरवरी, 1905; राँची सेटलमेण्ट पेपर्स)

इन गाँवों की एक विशेषता यह थी कि यहाँ जमींदारों की अपनी बकाश्त जमीन का रकबा बहुत बड़ा होता था। इसका कारण कुछ तो यह था कि जमींदार खुद भी खेतिहर जाति का होता था, दूसरे, वह खुद भी नौकर-चाकरों की मदद से जंगल साफ करके खेत तैयार कराता था।

इसमें कोई शक नहीं कि इन गाँवों में रैयतों का लगान अपनी मर्जी से बढ़ाते रहने का जमींदार को पूरा अधिकार होता था और उसके इस अधिकार के आगे रैयत पूरी तरह लाचार होते थे। इन गाँवों में जमींदार की बकाश्त जमीन का रकबा बहुत ज्यादा होने का असली कारण यही था कि यहाँ रैयतों से लिए जाने वाले लगान की दर बहुत ज्यादा थी। यह भी समझा जा सकता है कि बकाश्त जमीन का रकबा बहुत ज्यादा होने के फलस्वरूप ही रैयतों के लिए बची जमीन पर लगान की दर ऊँची होती थी।

पाठकों से विनीत निवेदन है कि मुद्रण की अत्यधिक बढ़ी हुई लागत के कारण हम पत्रिका की कीमत बढ़ाकर 7 रु० करने के लिए मजबूर हुए हैं। हमें आशा है, आप हमारी असहायता को समझते हुए यथापूर्व प्रकाशन के इस प्रयास में साथ देंगे। —'झारखण्ड दर्शन'

समग्र प्रकाशन की ओर से सीताराम शास्त्री द्वारा प्रकाशित एवं भावना प्रिंटिंग वर्क्स, 8, केशवचन्द्र सेन स्ट्रीट, कलकत्ता-9 में मुद्रित।